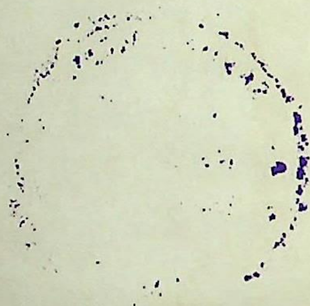
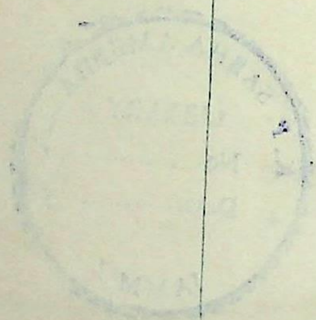


अधूरी कहानी का हीरो



शगूफ़ा, जम्मू ।

अधूरी कहानी का हीरो

सम्पादक :

अनिल सहगल

सी० एल० सहगल, स्वत्वाधिकारी द्वारा शगूफ़ा, मोती बाज़ार, जम्मू के लिए प्रकाशित / कांति ऑफसेट प्रिंटिंग हाउस, सरवाल, जम्मू में मुद्रित / संस्करण : १९७८ / मूल्य : आठ रुपये / सर्वाधिकार : अनिल सहगल ।

'अधूरी कहानी का हीरो' के प्रकाशनार्थ जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ द्वारा प्रदत्त आंशिक वित्तीय सहायता के लिए सम्पादक का आभार। पुस्तक को लेकर किसी भी विवाद के लिए अकादमी उत्तरदायी नहीं है । प्रस्तुत संकलन पुस्तक का प्रथम संस्करण है ।

अनुक्रम



मम्मी, पापा जी तथा
बिट्टू के लिए—

भूमिका

जम्मू प्रदेश में हिन्दी कहानी का इतिहास न तो लम्बा है और न ही उत्साहवर्द्धक । वस्तुतः जम्मू का हिन्दी साहित्यकार कविता के अधिक निकट रहा है । परिणाम-स्वरूप जहां एक ओर जम्मू में हिन्दी कवियों की कमी नहीं है वहीं हिन्दी कथा साहित्य की स्थिति सुखद नहीं है । बहुत पहले स्व० नरेन्द्र खजूरिया, श्री वेद राही और डा० ओम प्रकाश गुप्त ने अपने कहानी संग्रहों का प्रकाशन करवाया था । कुछ एक उपन्यासों का भी प्रकाशन हुआ । गत वर्ष स्थानीय 'युग हिन्दी लेखक संघ' ने इस विधा की ओर यहां के साहित्यकारों का ध्यान आकृष्ट किया और नियमित कहानी गोष्ठियों के आयो-जन के साथ ही साथ 'प्रिज़्मों में बटी किरणें' शीर्षक से नये पुराने कहानीकारों की कहानियों का एक संकलन भी प्रकाशित किया । उक्त संकलन ही वास्तव में इस संकलन की पूर्व-पीठिका प्रस्तुत करता है ।

प्रस्तुत संकलन में जम्मू के केवल चार युवा हस्ताक्षरों, जिनमें स्वयं मैं भी सम्मिलित हूं, की कहानियां संकलित हैं । ये चारों हस्ताक्षर यद्यपि हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में स्थान बना चुके हैं तथापि कहानी कला के सन्दर्भ में इनके समुचित प्रकाशन का, मेरे विचार में, यह पहला ही अवसर है ।

"अधूरी कहानी का हीरो"—मुझे नहीं लगता कि इस शीर्षक को पढ़ कर चौंक जाने जैसी कोई बात हो सकती है। प्रस्तुत संकलन को यह नाम देने के पीछे मेरी एक ही भावना थी कि अपनी कथा यात्रा की शुरुआत कर चुकने वाले यह चारों हस्ताक्षर अभी भी अपने अपने सन्दर्भों में अधूरे हैं—गो कि काफ़ी महत्त्वपूर्ण भी हैं। इनकी कहानियां इनकी विचार-धारा की पोषक हैं। अपने अपने स्तर पर सभी कहानियां, किसी न किसी सन्दर्भ में, एक अनदेखी लड़ाई की खामोश गवाह हैं। इनमें आम आदमी को अपने सम्पूर्ण विरोधाभासों तथा परिवेश की सभी संगतियों-विसंगतियों के मध्य चित्रित किया गया है। आज के दोहरे स्तर पर जिये जा रहे जीवन को रेखांकित करने में इन कहानियों के लेखक कहां तक सफल रहे हैं, इसका निर्णय तो विज्ञ पाठक ही कर सकते हैं या फिर सहृदय आलोचक। कम से कम मुझे इस सन्दर्भ में कुछ कहने का अधिकार नहीं है, ऐसा मैं मान कर चलता हूं। हां! इतना कह सकता हूं कि यदि किसी स्तर पर यह कहानियां आपकी चेतना को कचोटें अथवा झिझोड़ सकें तो इन लेखकों का श्रम सफल हो जायेगा।

—अनिल सहगल

पहली प्रति—
रिसम के लिए

रमेश मेहता

●

- अधूरी कहानी का हीरो
- एक मादा प्रतिशोध

अधूरी कहानी का हीरो

"देखो रात को देर मत करना।"

"क्यों ?"

"मेरा जी घबराने लगता है।"

"इसमें जी घबराने की क्या बात है। इतना बड़ा शहर है। सारी रात सड़कों पर चहल पहल रहती है और तुम हो कि अब भी डरती हो।"

"शहर के बड़े छोटे होने से क्या हो जाता है, लोगों के मन तो नहीं बदल जाते ? जानते नहीं अभी कल ही मुन्नी के पापा क्या सुना रहे थे ? बेचारे अशोक की किसी ने कितनी निर्दयता से हत्या कर दी थी ? और हां ! अभी कल ही तो शहर में चार जगहों पर चाकुओं ने अपने जौहर दिखाए हैं ! न बाबा न ! हमसे नहीं सहा जाता यह सब। वहां तो तुम स्वस्थचित मित्रों में बैठे कहकहे लगाते हो और यहां मेरा दिल डूब-डूब जाता है। हर आने वाली गाड़ी की आहट मुझे किसी अनिष्ट की कल्पना से भर जाती है।"

"तुम भी कमाल हो मीनू ! भला इस तरह

डरने से भी कहीं दुनियां के काम चलते हैं ! और फिर लड़ाई-झगड़े तो दिन में भी होते हैं न !" मैं खुल कर हंस देता हूं !

"फिर भी क्या तुम घर जल्दी नहीं लौट सकते···प्लीज़ !" उसकी आवाज़ में सलौनापन भर गया है। बाहर से असम्पृकत बना मैं भीतर कहीं दहल जाता हूं। अखबारों में छपने वाली सुर्खियां मेरा पीछा करने लगती हैं। अस्त-व्यस्त होने से बचने के लिए मैं एक हल्की सी 'बाय' उछाल कर गली में निकल आता हूं।

बाज़ार की चहल-पहल में पहुँचते ही हत्या, दंगा और चाकू मेरे लिए अर्थहीन हो जाते हैं। अपने को बाजार में चलती भीड़ का अंग मानने से मैं महसूसने लगता हूं कि मैं अभेद्य हूं। कोई मुझे छू नहीं सकता, कोई मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

काफ़ी हाऊस का शोर धीमा पड़ता जा रहा है। बाज़ार में एक-एक कर दुकानें बंद होने लगी हैं। डूबे हुए दिन की थकावट मेरी नसों में भर गई है। कच्ची छावनी के चौराहे से अपने घर की ओर जाने वाली सड़क पर मुड़ते ही मुझे अकेलेपन का अहसास दबोचने लगता है। मीनू से कहे गए मेरे अपने ही शब्दों का खोखलापन मेरा उपहास करने लगता है। इस शहर को एक बड़ा शहर मानने के अपने संतोष पर मुझे घृणा हो आती है। हुँह् ! यह भी कोई बड़ा शहर है ! इसी को बड़ा शहर कहते हैं क्या ? रात के कुल जमा ग्यारह बजे हैं और सड़कें सुनसान हो गई हैं। दूर तक किसी मनुष्य की छाया भी नहीं दिखाई देती। स्ट्रीट-लाइट का प्रकाश भी अभी से ऊंघने लग गया है। अशोक की हत्या का संदर्भ मुझे छा लेता है। मैं भीतर ही भीतर कहीं डर गया हूं। कैसा सन्नाटा छाया हुआ है ! एक मैं हूं और एक यह सड़क है या फिर इस सड़क के किनारे बुझी हुई बत्तियों वाले घरों में सोए लोग ! ऐसे में यदि कोई···!

मेरे आगे कुछ सोचने से पहले ही एक कम्पकम्पी मेरे सर से होती हुई पांव तक मुझे पसीने से नहला देती है।

खटाक् !

स्ट्रीट लाइट बुझ जाती है। अन्धेरे में चलने के अभ्यस्त मेरे पांव बढ़ते ही चले जाते हैं, परन्तु मेरा दिल डूबता जाता है। मुझे अनुमान होता है कि अभी किसी गली से निकल कर कोई गुण्डा एक तेज़ धार वाला चाकू मेरी पसलियों में घुसेड़ देगा या फिर अभी बिना बत्ती जलाए चलती हुई कोई गाड़ी मुझे अपने आलिंगन में लेती हुई बढ़ जाएगी। मैं अनुमान से सड़क के एक किनारे होकर चलने लगता हूं। अपने-आपको फिल्मी गीतों की धुनों में खो देने की असफल चेष्टा करता हूं। अपने बेसुरे स्वर को ऊंची टोन पर उठाए हुए प्रेमिका से किए गए वादों को पूरा करने का विश्वास दिलाने लगता हूं तो याद आता है कि मीनू को दिया हुआ वादा आज भी पूरा नहीं कर सका हूं। रोज की तरह आज भी देर हो गई है। मीनू आज भी ज़रा से खटके की आवाज़ पर "कौन…" का स्वर हवा में उछालती बैठी होगी। बड़ी भोली है, खाहमखाह डरती रहती है! पुलिस की फ्लाइंग स्कवैड की जीप तेज़ी से मेरे पास से निकल जाती है। मैं आश्वस्त हो जाता हूं। अभी मुझे किसी प्रकार का भय नहीं होना चाहिए। पुलिस मेरी पीठ पर है, मेरी सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। मैं सहज होकर चलने की चेष्टा करता हूं। स्ट्रीट लाइट मेरे घर तक जा कर लौट आई है। उजाले में मैं अपने को सुरक्षित अनुभव करता हूं। मेरा ध्यान फिर मीनू की ओर चला जाता है।

कितनी अच्छी है मीनू, कितना ध्यान रखती है मेरा! और एक मैं हूं कि उसकी इतनी-सी बात…बात पर आकर मैं रुक जाता हूं। दूर एक लैम्प-पोस्ट के नीचे एक साया मुझे इधर आता दिखाई देता है। उसके कदम लड़खड़ा रहे हैं। बेसुरे गले से वह सारी दुनियां से अनोखे रिश्ते जोड़ता चल रहा है। उसकी फाकामस्ती मुझे चौंका देती है। मेरे भीतर का भय फिर सतह पर उभरने लगता है। अखबारों में पढ़ी सुर्खियां फिर मेरी आंखों के सामने तैरने लगी हैं। शहर की दीवारों पर लगे फिल्मी पोस्टरों में से झांकती लाशों के चेहरों में से मैं अपने लिए एक चेहरा तलाशने लगता हूं। लोगों की बातों में एक और हत्या का विवरण जुड़ जाने का संदर्भ मुझे कमजोर

बना देता है । मैं आत्मविश्लेषण करने की मन:स्थिति में आने लगता हूं। मुझे अनुभव होता है कि मैं मौत से नहीं डरता। मैं देर तक बिस्तर पर पड़े-पड़े चाकू के या अन्य ज़ख्मों की पीड़ा सहने से डरता हूं। हर आने जाने वाले की दृष्टि में सहानुभूति का पात्र बनने से मुझे घृणा है और फिर मीनू ! मीनू का क्या होगा ? यही प्रश्न मुझे कमज़ोर कर जाता है। सारी शंकाएं मिल कर मुझे दिग्भ्रमित कर देती हैं। एक बेसुरा स्वर, दौड़ते हुए कदमों की पदचाप, लाल लाल आंखों की तेजी, खुले हुए चाकू की चमक—-सब मुझे अपना पीछा-सा करते हुए लगते हैं और मैं बेतहाशा भाग उठता हूं। कुत्तों के भौंकने का स्वर मेरे कदमों को और अधिक तेज़ भागने की शक्ति प्रदान करता है। चाकू, मुक्के, स्वर सब मुझे समीप पहुँचते अनुभव होने लगते हैं। मैं दम छोड़ कर भागने लगता हूं। घर के दरवाजे पर पहुंच कर आश्वस्ति का सांस लेने के लिए रुकता हूं। कालबेल का शोर मुझे ढारस बंधाता प्रतीत होता है। मीनू की आवाज़ सुन कर मैं अपने में लौट आता हूं। मेरा साहस फिर से मेरा हाथ पकड़ लेता है। मैं दूर-दूर तक—जहां तक मेरी दृष्टि जाती है—एक खुले हुए चाकू, एक उठे हुए थप्पड़ या फिर होठों पर रुकी एक गाली की तलाश करता हूं परन्तु सब ओर सुनसान है। केवल स्ट्रीट-लाइट का अलसाया प्रकाश है और मीनू की फटी-फटी आंखें जो निरन्तर मुझे घूरती चली आ रही हैं। मीनू अपनी फटी-फटी आंखों से अवाक् मुझे देखती रहती है। तो···तो क्या मैं··· खुले हुए चाकू एक बार फिर मेरी चेतना को छा लेते हैं। मुझे लगता है कि अब की बार इन चाकुओं से बचना नहीं हो सकता। मीनू की उपस्थिति भी मुझे धैर्य नहीं बंधा पा रही है। घर की चारों दीवारें मुझे घूरती हुई प्रतीत होती हैं। धीरे-धीरे मेरे मानस पटल पर आज दिन में अपने कार्यालय में हुई झड़प का दृश्य उभरता है। लाल-लाल आंखों द्वारा उछाली गई धमकी एक बार फिर मेरे गले का फंदा बन जाती है। गली में दौड़ते हुए कदमों का शोर बढ़ने लगता है। मेरे हृदय के एक कोने में दर्द की लहरियां उभरती हैं और तीव्रतर होती जाती हैं। मैं फिल्मी पोज़ में छटपटाने लगा हूं। मीनू मुझे सहारा देने के लिए आगे बढ़ी है, पर मैं उसे धकेल देता

हूं। मुझे लगता है कि यदि उसने मेरा साथ न छोड़ा तो यह लोग उसे भी चाकू मार देंगे। लाल लाल आंखों वाले यह लोग किसी को नहीं छोड़ेंगे। खुले चाकू की संस्कृति हमें ज़िन्दा नहीं रहने देगी। ज़िन्दगी के इन अंतिम क्षणों में पहली बार मुझे संतोष का अनुभव होता है कि अच्छा ही हुआ जो मेरे घर में बच्चे न हुए अन्यथा मरने की यातना और भी बढ़ जाती। मैं मर रहा हूं, चाकू मेरी चेतना से होता हुआ मेरी पसलियों को छू कर मेरे हृदय में चुभ रहा है, मेरा सारा शरीर पसीने से सराबोर हो गया है। चेतना धुंधली पड़ती जा रही है। भागते कदमों की आवाज़ दूर होती जा रही है और मैं···हां! मैं अब इस कहानी को कहने की शक्ति खोने लगा हूं। नहीं, नहीं! यह कहानी अधूरी नहीं रह सकती। मुझे कहानी पूरी करनी ही है। मुझे कहानी पूरी करनी ही होगी। पर नहीं, मैं कहानी कैसे पूरी कर सकता हूं? मेरी चेतना मेरा साथ छोड़ रही है। मेरी वाक्शक्ति समाप्त हो रही है। मेरा अन्तस यह कह रहा है कि आज तक एक अधूरी ज़िन्दगी को ढोने वाले तुम इस कहानी को पूरा कैसे कर सकते हो? यह अपने से अन्याय है, यह नितान्त असम्भव है। मरना मेरी नियति है और मैं मर रहा हूं। फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि मैं किन परिस्थितियों में मर रहा हूं। मस्तिष्क की नसें और अधिक तीव्रता से चटखने लगी हैं। अब नहीं बोला जाता ...

मुझे महसूस होने लगा है कि कुत्ते भागते-भागते अनायास रुक गए हैं। उनके भौंकने का स्वर थम गया है···मीनू के रोने की आवाज़ भी दूर होती जा रही है। मैं अपने परिवेश से कटता चला जा रहा हूं··· बिल्कुल असम्पृक्त, नितांत अचेतन!

एक मादा प्रतिशोध

"शालू !"

"हूं..."

"तुम...आज फिर प्रदीप के घर गई थीं"

"हां गई थी..."

"मुन्नी आज भी साथ थी ?"

"हां, वह भी मेरे साथ थी । ...तुम्हें मुन्नी के मेरे साथ बाहर आने-जाने पर कुछ आपत्ति है क्या ?"

"आपत्ति ?" उत्तर देने के स्थान पर मैं भौंचक्का सा उसे देखता रह जाता हूं । अपने पर हैरानी हो आती है। शालू के इस व्यवहार पर हैरानी के स्थान पर क्रोध उमड़ आता है परन्तु मुट्ठियां भींचने के सिवा और कुछ भी कर पाने में मैं, सदा की भांति, इस बार भी अपने को असमर्थ अनुभव करने लगता हूं। अत: मुड़ी हुई अंगुलियों पर मेरा दबाव बढ़ता जाता है।

"शालू, तुम्हें कुछ ज्ञात भी है कि तुम किस डगर पर अग्रसर हो चली हो और कि जिस पथ को

तुम इतना प्रशस्त समझे बैठी हो, वास्तव में वह मार्ग कितना कण्टकपूर्ण है···?''

''जानती हूं !'' मेरी बात को व्यग्रता से काटती हुई शालू बोल उठती है, ''तभी तो इस पथ पर चल पड़ी हूं।''

''परन्तु जानबूझ कर एक अनिर्दिष्ट एवं भयावह खाई में डूबते चले जाने को बुद्धिमानी तो नहीं कह सकते न ?''

''यह केवल तुम कह सकते हो मुनि कि यह खाई भयावह है···यह पथ एक अनिर्दिष्ट गन्तव्य की ओर ले जाने वाला है···क्योंकि ऐसा कहे बिना तुम्हारी स्वार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती। तुम अपने बनाए हुए प्लान को सफल नहीं बना सकते···''

''यह तुम्हारा वहम है शालू कि तुम्हें पतन के गर्त में गिरने से बचाने की भावना के पीछे मेरी स्वार्थ भावना कार्य कर रही है। वस्तुस्थिति यह है कि तुम एक नितान्त गलत डगर पर इतना आगे निकल आई हो कि पीछे मुड़ने में अपने को असमर्थ पा रही हो और बोदे तर्कों से स्वयं अपने को ही नहीं मुझे भी भरमाने का यत्न कर रही हो···।''

''किन्तु···''

''किन्तु कुछ नहीं शालू। क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि जिस बच्ची की तुम मां हो, उस सोलह वर्ष की मुन्नी को तुम किन संस्कारों से मंडित कर रही हो। तुम्हारा अपना परिवेश चाहे जैसा रहा हो परन्तु यह निश्चित रूप से जान लो शालू कि कल मुन्नी उस परिवेश में भी अपने को संतुष्ट नहीं मान सकेगी और फिर···फिर जो होगा उसे घटने से न तुम रोक सकोगी और न मैं। सच कहना शालू, समस्या के इस पक्ष पर भी क्या कभी तुमने विचार किया है···''

मेरे इस प्रश्न ने लगता है शालू के हृदय के किसी अंधेरे कोने में बैठी मां को जा छुआ है। बादल का एक टुकड़ा हम दोनों के बीच तैर आया है। दायीं ओर की क्यारियों में एक लहर सी आई है और चीड़ों के पत्तों के गले मिलने का शोर घाटी भर में फैल जाता है। बादलों के पार झांकने की एक बेमकसद, बेसूद कोशिश करता हूं तो काटेज के भीतर

सोई मुन्नी का ध्यान हो आता है। मैं फिर अपने को उसी समस्या से जुड़ा पाता हूं जिस पर से बादलों के एक टुकड़े ने मेरा ध्यान हटा दिया था।

अपने और शालू के बीच चले आए बादल के इस टुकड़े को काट सकने की कोशिश में चिल्ला सा उठता हूं...

"तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया शालू...?"

मेरा प्रश्न घाटी में गूंज भरता हुआ अन्ततः मेरे पास लौट आता है—मार खाए बच्चे सा, अनुत्तरित! मुझे महसूस होता है कि एक औपचारिकता थी जिसे मैंने बखूबी निभा दिया है; परन्तु शालू...हां! शालू से इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार की आशा करना व्यर्थ है क्योंकि उसने कभी कोई औपचारिकता नहीं निभाई है। कंजी आंखों से बादलों के पार झांकने का प्रयत्न करता हूं और यह जान कर अवसाद से भर जाता हूं कि शालू बादल के उस टुकड़े का ढाल के रूप में प्रयोग करते हुए, मेरे प्रश्न से बच निकली है और काटेज के किसी कोने में जा बैठी है। मुझे लगने लगता है कि अब मुझे चुप हो जाना चाहिए कि अब कोई भी शब्द किसी भी अर्थ को ध्वनित नहीं कर पाएगा। परन्तु किसी शब्द का उच्चारण न करने मात्र से ही मुक्ति नहीं मिल जाती। शब्दों के ऊपर शब्द गडमड होकर मेरे मस्तिष्क के घेरों में बातिक शैली के चित्रों का निर्माण करने लगते हैं...

"हलो मनीश..."

"हलो अंकल!"

"भई मनीश, आज हम एक खास काम से तुम्हारे पास आए हैं..."

मुझ से अंकल को क्या खास काम हो सकता है, यही सोचते सोचते मैं उनसे काम बताने के लिए कह देता हूं।

"देखो मनीश...मेरे पार्टनर...माथुर की लड़की शालू को तो तुमने देखा ही होगा। कितनी सुन्दर और शालीन है। आज मैं तुम्हारा हाथ उसी के लिए...!"

कर्नल बत्रा के आगे कुछ बोलने से पूर्व ही मैं सारी स्थिति भांप जाता हूं। अपने आस-पास बैठे घर के लोगों के चेहरे बत्रा अंकल के कथन की पुष्टि सी करते हुए व्यग्रता से मेरे उत्तर की प्रतीक्षा करने लगते हैं।

"आप शालू से मुझे मिलवा दीजिए। उसे देखने के बाद ही निर्णय ले सकूंगा।" अपने इस कथन पर सबके चेहरों पर तरंगायित होने वाली संतोष की लहरें देखकर अनुमान लगा लेता हूं कि शालू नाम की लड़की सचमुच बहुत ही सुन्दर होगी।

शालू से भेंट होने पर मैंने सीधे-सीधे विवाह करने की स्वीकृति प्रदान कर दी थी। परन्तु आज सोचता हूं कि कितनी बड़ी गलती की थी मैंने। शालू का मुखमंडल किसी सूरत इस बात की गवाही नहीं दे रहा था कि शालू प्रदीप नाम के किसी अन्य द्वीप से जुड़ा हुआ वह सेतु है जिसे अंकल बत्रा ही नहीं मेरे और शालू के घर वाले, सब मिलकर मेरे द्वीप के साथ जोड़ने के लिए कटिबद्ध हैं। वह यह भूल गए थे कि शालू एक मैकेनाइज्ड पुल नहीं है जिसे एक स्थान से उठाकर किसी दूसरे स्थान पर उसी अनुपात और एकरूपता से फिट किया जा सकता है। और वहीं हुआ था। शालू की और मेरी पटरी तभी तक सही बैठी थी जब तक कि मुझे शालू के और प्रदीप के सम्बन्धों का ज्ञान नहीं हो गया था। इस पर भी मैंने चाहा था कि शालू को सम्भाल सकूं परन्तु यह सब इतना सरल नहीं था जितना कि मैं समझे बैठा था। समझौते की मुद्रा में हम इस स्थिति को नकार भले ही न सके हों, स्वीकार भी नहीं कर पाए थे।

बहुत बाद में मुझे ज्ञात हुआ था कि शालू एक ऐसी लड़की है जिसने शादी केवल एक ढाल प्राप्त करने के लिए की थी। प्रदीप का शूल और कई शूलों के साथ मिलकर मेरे लिए अत्यंत पीड़ादायक सिद्ध हो रहा था। मन में उठते इस संशय को मैंने अक्सर झूठी तसल्ली करते हुये दबा दिया है कि मुन्नी सचमुच मेरी ही बेटी है? उसकी देहरचना में शालू का सहयोगी केवल मैं हूं···केवल मैं?

सम्भवत: यही कारण हो कि मैं मुन्नी के प्रति चिन्तित हो उठा हूं। शालू अपने किसी भी मित्र के साथ मिलते समय मुन्नी को सामने रखती है, पास रखती है। मुझे विश्वास है कि यौनाचार के विभिन्न ढंग मुन्नी ने अभी से सीख लिए होंगे। इसी बात को लेकर एक बाप होने के नाते, मेरा मन चिन्ता से भर उठा है। सोचता हूं क्या शालू एक मां नहीं है ? क्या कभी उसका मन मुन्नी के भविष्य को लेकर चिन्तित नहीं होता ?

"शालू...तुम मुझ से दूर क्यों भागना चाहती हो ? क्या तुम समझती हो कि इस समय इन प्रश्नों से बच निकलने पर तुम भविष्य में अपने पर आने वाली सभी जिम्मेदारियों से भी बच निकलोगी ?"

"जिम्मेदारी ? कैसी जिम्मेदारी ?"

"मुन्नी के भविष्य के प्रति...अपने परिवार के भविष्य के प्रति ?"

"देखो मुनि, मुन्नी को तो मैंने अपने ढंग से शिक्षित करना शुरू कर दिया है और उसे अभी से इस मर्द जाति के प्रति सतर्क बना दिया है।"

"क्या ?"

"मैं ठीक कह रही हूं मुनि। जो कुछ अपनी किशोरावस्था में... नहीं नहीं उससे भी पहले मुझे देखना पड़ा था, मुझे विश्वास है कि मुन्नी को वह सब चीज़ें आयुपर्यन्त नहीं देखनी पड़ेंगी। मेरे बचपन जैसी किसी भी स्थिति में से गुज़रते हुए घटनाओं का सूत्र मुन्नी के हाथ में होगा न कि किसी कामी, लोलुप और घृणित पुरुष के हाथ में। बाकी रहा परिवार..."

"लेकिन तुमने ऐसा क्या सहा है कि मुन्नी को भी वही सब सहने के लिए तैयार कर रही हो...पूरे एक युद्ध की तैयारी..."

"हां मुनि यह एक युद्ध ही तो होता है जिसमें अनेक सम्बन्धों के शस्त्रास्त्रों से लैस पुरुष विजयी होता है और बचपन में मुझ जैसी कितनी ही नासमझ लड़कियां प्राय: यह युद्ध हार जाती हैं। मुझे संतोष है कि

मैंने यह युद्ध जीत लिया—चाहे बाद में ही सही। पहले मुझे पुरुषों के संकेतों का अनुसरण करना पड़ता था अब मैं सारे खेल का संचालन स्वयं करती हूं···मेरी मुन्नी भी संचालन करेगी···सच !"

"और परिवार···"

"परिवार ?" शालू मेरे प्रश्न का उत्तर देने लगी है, मैं सतर्क हो जाता हूं, "तुम्हारा परिवार क्या मेरा परिवार नहीं है, मुन्नी का नहीं है ? किसका परिवार है यह आखिर ? क्या आज तक यह ठीक नहीं चला है ? और आगे भी यह ठीक नहीं चलेगा इससे कौन इंकार कर सकता है···?"

"ठीक···" कुछ कहते कहते मैं रुक जाता हूं। गली में से गुज़रती कितनी जोड़ी आंखें मेरी पीठ में छेद किए डालती हैं उनकी गणना करने में अपने को असफल मानता हूं। कितने मुंह 'जोरू का गुलाम' जैसे सम्बोधन मुझ पर चस्पां कर देते हैं, नहीं जान पाता हूं। कितनी जिह्वाएं शालू के नाम पर 'सती-सावित्री' के नाम को बदनाम करती हैं कह नहीं सकता···लेकिन एक बात स्पष्ट रूप से जानता हूं···कह सकता हूं···और कह देता हूं···

"तुम ठीक ही कह रही हो शालू। सब ठीक चल रहा है। मेरा दफ्तर जाना और उन्नति करना—बिल्कुल ठीक चल रहा है। तुम्हारा नित नया मेकअप करना और एक से दूसरे की बाहों में झूलते चले जाना और मुन्नी का तुम्हारे कामुकतापूर्ण दृश्यों का हिसाब रखते चले जाना··· सब ठीक चल रहा है। लेकिन एक स्थान पर यह सब किसी भी कोण से ठीक नहीं चल रहा है शालू और वह कोण है···मुन्नी। प्रमाण चाहती हो तो एक दिन के लिए मुन्नी को अकेले बाहर घूम आने दो और···"

दौड़ते हुये कदमों की पदचाप, और मुन्नी की चीख का स्वर मुझे बात पूरी नहीं करने देते। मैं और शालू दोनों अपने विवाहित जीवन में सम्भवत: पहली बार एक ताल पर सोचते हुए कार्य करते हैं और मुन्नी के कमरे की ओर भाग उठते हैं। मुन्नी की फटी-फटी आंखों में भय झांक रहा है और सिसकियां उसके दामन को गीला कर रही हैं। शालू चीख

चीख कर मुन्नी से सारी घटना जानने का यत्न कर रही है। मैं बिना जाने सब समझ गया हूं। शहर का कौन सा ऐसा गुण्डा है जो मुन्नी के पीछे नहीं भाग रहा है। मुन्नी···हां! वह भी उन सबको शह देती है परन्तु उनके समीप जाती नहीं। आज कुछ लड़के मैंने यहां भी देखे थे। मेरा माथा ठनका था। परन्तु इसी आधार पर शालू को मैं सचेत कर पाता···इससे पहले ही यह सब हो गया था। मन ही मन प्रसन्न हो उठता हूं। मेरा सोचा हुआ ठीक ही निकला—'वीकर सेक्स' अंततः 'वीक' ही होता है। शालू चीखने के स्थान पर रोने लग गई है। मेरी खुशी बढ़ चली है। शालू के रोने का कारण जानते हुये भी खुश होना अच्छा लग रहा है। लगता है कि वह जान गई है कि मुन्नी सब कुछ सीख जाने पर भी 'मुन्नी' ही है जो अपने पुरातन संस्कारों के चलते शादी से पहले अपने जीवन में सेक्स को खुली स्वीकृति प्रदान कर सकेगी, इसके प्रति आशंकित है। और फिर अनिच्छा से किसी के साथ समागम···। मेरे चिन्तन का प्रवाह रुक जाता है। यह मैं क्या सोचे जा रहा हूं। लगता है इस स्तर पर आ क' मैं भी शालू से मिल गया हूं। और यह भी अनुभव करने लगा हूं कि आज की, बल्कि अभी की, मुन्नी, शालू और मुनि को मिलाने वाली सन्धिरेखा बन रही है। मेरी दृष्टि अनायास शालू की ओर उठ जाती है—एक अव्यक्त इच्छा से कि उसे समझा सकूं कि सब ठीक नहीं चल रहा है, कहीं कुछ गलत जरूर है—उसकी दृष्टि से मेरी दृष्टि टकराती है और पहली बार मैं शालू की दृष्टि में लिजलिजापन देखता हूं। मुझे महसूस होता है कि उसकी आंखों में पराजय झांक रही है और वह अधिक देर तक मुझसे नज़रें नहीं मिला सकेगी और सचमुच शालू की पलकें झुक जाती हैं मानो झुक कर कह रही हों कि कहीं कुछ गलत जरूर है।

निर्मल 'विनोद'

•

- सहज असहज
- खिड़की से झांकता दर्द

सहज असहज

विकल बाजार से बेरंग लौट आया है। इससे पूर्व उसके चेहरे पर इतनी बेचारगी और असहायावस्था का सा भाव मैंने कभी नहीं देखा। और यदि देखा भी तो याद नहीं रख पाया।

'क्यों बच्चू।' —दादी अपने पहले ही से बेहद कोमल स्वर को और भी अधिक स्निग्ध, अधिक ऊष्म बनाती हुई पूछ रही है। —'तेल आज भी नहीं मिला ?'

'नहींऽऽऽ।' उसके अन्दाज़ में कौंधती तल्खी मुझे खटके बिना नहीं रह पाई है। मैं उसे घुड़क देने के लिए उचित शब्दों की तलाश करने की सोचने लगा था कि विवेक की हल्की सी एक लहर सुबुद्धि को गनगना गई है— "छोड़ो भी, बेचारा मुँह-अंधेरे का निकला हुआ है। स्कूल भी तो नहीं जा पाया।"

"क्यों बच्चू। भीड़ जिआदा थी क्या ?"

और नहीं तो क्या मुझे खाली कनस्तर उठा कर आने ले जाने का ही चस्का है।"

दादी और विकल की यह नोक-झोंक कुछ सोचने पर विवश करने लगी है।

"ढंग से तो बोलो भई।" —मैं ज़ब्त नहीं कर पाता।

"ढंग से क्या खाक बोलूं ? कब का निकला हूं। मारे प्यास के हल्क में सुइयां चुभी जा रही हैं और ये हैं कि......" मुझे उसकी भूख से खुश्क अन्तड़ियां नज़र आने लगी हैं।

"हाय ! मैं मर जाऊं। आग लगे मेरी 'अक्किल' को। मैं भी क्या......" —इससे आगे दादी के शब्द नहीं सुनाई पड़ते। वे अपने आप को फटकारती हुई भीतर चली गई हैं।

विकल ने खाली कनस्तर आंगन के सामने वाले कोने में ही पटक कर चारपाई बिछा ली है। वह बूट के फीते खोल रहा है।

दादी एक हाथ में बावड़ी के ठण्डे पानी से भरा गिलास और दूसरे में बिस्कुटों की प्लेट पकड़े आंगन में चली आई हैं।

"ले बच्चू ! पानी पी ले......नहीं......पहले कुछ खा ले, फिर पानी पीना"—वे संशोधन करने से चूकती नहीं।

मैं तेरे लिए चाय रख रही हूं, कहती वे फिर रसोई की ओर चल दी हैं। जाते जाते उनके यह शब्द कान में पड़ ही जाते हैं— "हे भगवान ! कैसा 'समां' आ गया है ! पैसा जेब में है। पर चीज़ नहीं मिलती।"

मैं जानता हूं इससे आगे वे क्या कहेंगी।

अपनी शादी की बातें, अपनी तीन बेटियों और चार बेटों की शादियों की घटनाएं, सस्तभाई के 'जुग' की, गाए-भैंसों और अन्न-दाने की खरीदो-फरोख्त की संस्मृतियां, अपने बचपन की यादों के मिठलोने किस्से और आज के दयनीय शैश्व की अभावग्रस्त अवस्था के चर्चे और......और न जाने क्या-क्या !

मैं आंगन में, दाएं हाथ बनी पक्की सीढ़ियों से छत पर जाने लगा हूं—यह सोचते हुए—विकल ठीक ही कहा करता है— 'दादी की जुबान और भरे टेप में राई-रत्ती भी अन्तर नहीं।'

'चॉबी' लगने भर की देर है कि बस······ 'बच्चू ! जब मेरा ब्याह······' से शुरू होने वाले कल्कि–पुराण के काल्पनिक पन्नों का पढ़ा और उल्टा जाना—दोनों क्रियाएं एक साथ सम्पन्न होने लगती हैं।

छत पर कुर्सी डाले सूरज की ओर पीठ किए बैठा हूं। नवम्बर के ढलते सूरज की कुनकुनी धूप की नर्म, मीठी गर्माहट पीठ को सहलाती-सी लग रही है।

घड़ी देखता हूं— सवा पांच बजने में चार-एक मिनट शेष हैं। नीचे आंगन में शान्ति व्याप्त हो गई लगती है। लगता है— विकल ने खा-पीकर, चाय तैयार हो जाने तक, कुछ आराम कर लेना चाहा है। मैं कुर्सी से उठ कर जंगले की ओर चला आया हूं— देखने के लिए कि नीचे आंगन में धूप आ रही है या नहीं, और यदि नहीं आ रही तो विकल ऊपर छत पर चला आए—कमर जरा सीधी कर ले।

नीचे झांकने पर पाया है कि परले कोने में धूप का आड़ा-तिरछा एक षटकोण-सा टुकड़ा दिन के जीवित होने का एहसास पूरी बेबाकी से करवा रहा है।

दादी उसके सिरहाने ज़रा झुकी-सी मुद्रा में है। एक हाथ में चाय का मग लिए वह अपना खाली हाथ उसके सिर पर फेर रही है। ईर्ष्या का एक भाव मेरे भीतर करवट लेकर उठ खड़ा हुआ है। मिट्टी का तेल लाने मैं ही क्यों न चला गया? मां ने मुझी से कह दिया होता।

मैं मन ही मन दादी के स्नेह को दिन भर लाइन में जुते रहने की वाहियात कोशिश के मुकाबले में काफी हल्का समझने का असफल प्रयास करते हुए अपने भाग्य को सराहने के से भाव चेहरे पर लाने का उद्योग करता हूं······मन को सान्त्वना देता हूं कि मां ने ऐसे घटिया काम के लिए मुझे न कह कर अच्छा ही किया है।

व्यथित मन को तसल्ली देने पर उतर आएं तो सही-संदर्भों में सायास फेर-बदल कर एक ही बात को भिन्न-भिन्न कोणों से देखने-परखने का

स्वाभाविक या अस्वाभाविक किसी भी तरह का यत्न स्वतः होने लगं जाता है।

मैं भी बात को दूसरे ही ढंग से सोचने लगता हूं।

मैं अब अधिक बड़ा हो गया हूं— अधिक सयाना, पहले से थोड़ा और समझदार। ······मुझ पर छोटे-छोटे कामों का बोझा अब नहीं रह गया है। मुझे बड़े काम सौंप दिए गए हैं।······ जैसे······जैसे आफिशियल मैटर्ज़ कण्डक्ट करना। अभी कल की ही तो बात है। हमारी बीट पर नियुक्त मीटर-रीडर और लाइन मैन की मेरे साथ हुई बातचीत का विवरण असिस्टैंट इलैक्ट्रिकल इन्जीनियर तक पहुँचाने की अनुमति मेरे आदर्शवादी पिता जी ने प्रदान की है। —लेकिन इस हिदायत के साथ कि बात को जरा गोल मोल ढंग से करूँ ताकि सम्बन्धियों के नाम कहीं बीच में न आएं। रीडिंग नोट करते हुए 'बाबू' ने 'टोन' को एक खास अन्दाज़ में मोल्ड करके कहा था— 'भई बिजली का इतना खर्च वाकई ज्यादा है। वैसे आप चाहें तो हम आपके लिए संकटमोचन जरूर साबित हो सकते हैं। ······वी आर आलवेज़ एट योर सर्विस, सर! पर······पर देखिए। ······उसने ओठों पर जीभ फेरते हुए बाकी शब्द आँखें लाइनमैन के गिजगिजे चेहरे पर टिकाते हुए— जो—'जो हुक्म साब' की मुद्रा में किसी वफादार पिल्ले की भांति खड़ा आँखे मटका रहा था— कह दिए थे— 'जरा हमारा भी···हैं···हैं···हैं···हैं।'

आगे सब कुछ समझना मेरे अधीन था। मुझे पता है कि पड़ोस में रहने वाले हमारे ही सम्बन्धी दो परिवार, बिजली किस बेदर्दी से फूँकते हैं। चार-चार किराएदारों-समेत वे 'हीटर्ज' उपयोग में लाते हैं। और मीटर की सुई सीधी या उल्टी दोनों दिशाओं में दौड़ती फिरती है— सब कुछ तो केवल समय, स्थिति और हाथ में पेचकस थामने पर निर्भर रहता है।

हां तो मैं कह रहा था······जैसे आफिशियल मैटर्ज़ कण्डक्ट करना, एक दूसरा कमरा बनवाने के लिए सीमेंट, लोहे, ईंटों और लकड़ी आदि इतने ढेर सारे मैटीरियल का बन्दोबस्त करना··· ···बाहिर-अन्दर जाना···

…काफी लम्बी चौड़ी अपनी ही बिरादरी में छोटी फुफेरी बहन के लिए कोई अच्छा सा पढ़ा लिखा, शरीफ-ज़ात, बेऐब लड़का देखना— जिसे हम अपना सम्बन्धी बना सकें…इत्यादि…मेरे कार्यक्षेत्र की परिधि में आते हैं… मैं जैसे अपने आप पर लज्जित होता हूं। —यह सब सोचते न सोचते।

मुझे धूप का वह षटकोण टुकड़ा एक विषमबाहु त्रिकोण में सिमटता सा दिखाई दे रहा है— जैसे चेत हो आया है… अरे! मेरी आंखें तो अभी तक धूप के टुकड़े पर टिकी हुई हैं— मेरी एकान्त सी सोच में गतिरोध आ गया है। विकल के प्रश्न और दादी के उत्तर ने मुझे जैसे झिझोड़कर रख छोड़ा है।

दादी उसके प्रश्न को अनुत्तरित न रहने देने के लिए अपना पोपला मुंह खोल कर कह रही है— "तुम्हारी माँ तीन बजे राशन-काट, आटे का पीपा और डालडे का डिब्बा लेकर कन्टरोल की दुकान पर गई थी। पता भी है कि रात पड़ ही जाएगी, फिर भी बता नहीं गई— सब्जी क्या बनाऊँ?"

अलका—छोटी बहन—कपड़े धोने का साबुन और सब्जी खरीद कर ड्योढ़ी से आँगन में आ पहुँची है। सामान दादी के पैरों के पास ही पटक, वह भी खाट में धंस गई है। उसने, सम्भवतः दादी का अन्तिम वाक्य पकड़ लिया है— "खाक खाएं! न आलू, न प्याज़ और न कोई दूसरी सब्ज़ी। गोभी ही गोभी है या फिर मूलियां और वह भी चार रुपये किलो, दो रुपये किलो।"

पिता जी कहते हैं— खर्च कम करो, खर्च कम करो— कैसे करें?"

उसकी उत्तेजना के ज्वार में कुछ उतार आ गया है। विकल ने मग खाली कर दादी के हाथ में थमा दिया है।

धूप का अन्तिम धब्बा— देखते ही देखते कहीं खो गया है।

गली में, सहसा, चख-चख सुनाई देने लग गई है। लपक कर मुंडेर तक आ पहुंचा हूं। दो एक क्षण में ही माजरा समझ में आ गया है।

पार्क में कबड्डी खेलते-खेलते मेरे सब से छोटे भाई बंटी के हाथों बगल में रह रहे स्कूल-मास्टर साहब के मझले लड़के की यूनिफार्म की खाकी कमीज़ फट गई है और मास्टरनी एक लम्बा चौड़ा जलूस लेकर हमारी ड्योढ़ी के सामने खड़ी हुई, घाटे में चल रहे अपने पारिवारिक बजट का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने लगी है। उसका चिल्लाना मेरे कानों को बुरी तरह खलने लगा है।

तुम्हारे बाप की तरह मास्टर की बज़ाजी की दुकान तो नहीं होती—वह लगभग चीख रही है।

विकल बाहर निकल आया है। दादी और अलका उसके पीछे पीछे चली आई हैं, विकल उबल पड़ा है— "ससाली ऽऽऽ। बाप तक को नहीं बख्शती।" बंटी सहमा सा भीड़ के परले सिरे पर खड़ा दिखाई दे रहा है। मां राशन की दुकान से अभी तक नहीं लौटी। भुनभुना कर रह जाता हूं '····मैं कुछ कर नहीं सकता···।'

मुझे लगता है— मैं खोखला हूं··· मेरा बड़प्पन खोखला है··· मेरा असहाय···बेबस यौवन दीमक लगा है··· मेरी ग्रैजुएशन की डिग्री बौनी है। ···मेरी एम० ए० की पढ़ाई बेकार है··· मैं निकम्मा हूं··· बिलकुल निकम्मा···

मैं बिजली वालों की धांधली नहीं रुकवा सकता।

मार्केट में चीज़ें उपलब्ध नहीं करवा सकता।

मैं चीज़ों के दाम कम करवाने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं कर सकता।

···और···और···खेल खेल में फट गई कमीज़ को लेकर बाप तक पर चढ़ दौड़ने वाली दो पैसे की चिड़चिड़ी औरत की कैंची सी किच-किच चलती जुबान को रोक नहीं सकता। उसकी पारिवारिक अवस्था देखते हुए उसकी मानसिक शान्ति के लिए कोई सामान नहीं कर सकता।

···और यदि कर सकता हूं तो केवल यही कि ··मैं···मैं छत से नीचे जा सकता हूं···मास्टरनी से हाथ बांध कर चुप हो रहने की प्रार्थना कर सकता हूं···भाई की ओर से माफी मांग सकता हूं···और यदि वह तब भी नहीं मानती तो उसकी शान्ति के लिए छोटे भाई को स्कूल मास्टर के लड़के के साथ भविष्य में कबड्डी न खेलने की कड़ी हिदायत अपने भारी हाथ से दो झापड़ रसीद करके दे सकता हूं···।

···मेरी बौखलायी आंखों के सामने उसके कोमल गाल उभर आए हैं। एक उलझन— एक परेशानी से छुटकारा पाने के लिए उससे अच्छा अन्य कोई उपाय मेरी समझ से बाहर की बात है।

मस्तिष्क भन्ना गया है···। विवेक कुण्ठित हो चला है···

मैंने मन मार कर नीचे जाने के लिए—मुंडेर से हट जाने की दिशा में एक पग उठा लिया है।

सोच रहा हूं कि बंटी का इस समय, भीड़ में न होना ही अच्छा है।



खिड़की से झांकता दर्द

पूर्व की ओर खुलती खिड़की के पार, ट्यूब-लाइट्स के प्रकाश में धुली सड़क दिखाई दे रही है। जिसके दोनों ओर पलाश, आम, टाली और यूक्लिप्टस के पेड़ सिर उठाये खड़े हैं। बायें किनारे एक निश्चित दूरी के बाद लगे लैंप-पोस्ट्स हैं जिन पर टँगी ट्यूबों की तेज़ रोशनी में सड़क का रंग कुछ बदला-बदला सा लग रहा है— स्लेटी दूधिया सा।

खिड़की के बाहर, कॉरीडोर के रेलिंग को फलांगती नज़र, इस समय, कुछ गुमसुम, कुछ उदास है। सुबह नौ और दस बजे के भोंपुओं की गूँज और शाम के चार बजे के आस-पास रेलिंग के साथ कुर्सी बिछा कर और अपना सारा बोझ रेलिंग पर टिके हाथों के माध्यम से उसी पर डालने के बाद, नीचे सड़क पर देखना मेरी आदत बन गया है। कभी शुगल के रूप में आरम्भ होने वाली आदत— जो अनेक पूर्वाग्रहों के कारण पहले अटपटी सी लगती थी अब, स्वभाव का अभिन्न अंग बन चुकी है।

सुबह कालिज की ओर जाती और शाम को घर वापस लौटतीं कालेज की लड़कियों को देख कर उन्हें 'विश' करना और जवाब में उनका मुस्करा देना या 'विंक' करना मेरी दिनचर्या का प्रमुख भाग है। कुछ शोख लड़कियों द्वारा विंक किये जाने पर, उत्तर में विंक किया जाना भी कितना थ्रिलिंग रहता है। बहुत बार सोचता हूं कि ऐसा न करूं। अफसोस भी होता है, अपने आप पर, कि मैं कोई नेकी का काम नहीं कर रहा···लेकिन क्या करूं—? पहाड़ जैसी ज़िन्दगी अकेले काटने की विवशता खिड़की या खिड़की से बाहर की रेलिंग पर ला खड़ा कर देती है और मैं जीने का अभिनय करने लगता हूं। कालेज जाने वाली हर नई लड़की अपनी सीनियर्ज़ से सब सीख जाती है। एक 'पीढ़ी' आती है··· एक चली जाती है और मैं यहीं— इसी स्थान पर खड़ा होकर एक पीढ़ी के चले जाने और दूसरी के आने की राह देखने लगता हूं··· देखता रह जाता हूं··· ।

सन्नाटे को चीरती हुई, दूर कहीं से जीप की आवाज़ निकट आने लगी है। बायीं या दायीं— किस ओर से ? मैंने अपने आप से पूछ लिया है, लेकिन सही जवाब नहीं मिल पाया। चारों ओर गूंजती यह आवाज़ किस दिशा से समीप आ रही है— कहना कठिन लग रहा है।

शांत, निर्विकार झील की सतह सी निश्चेष्ट, सीधी लेटी सड़क के बीचों-बीच एक चेहरा उभरने लगा है। धुंधला सा, अस्पष्ट, फ्लिक्रिंग··· स्पष्ट हो चला है··· हो गया है। यह उसी लंबूतरी लड़की का है जिसकी दोस्ती ठिगने कद वाली लड़की से है।

वैसे, हैं दोनों सुन्दर, किन्तु 'अपील' का जैसा भाव ठिगने कद वाली लड़की में है, लम्बूतरी में नहीं। छोटे कद की लड़की—'छोटू', लम्बूतरी लड़की—'लम्बू'। नाम न जानने की अवस्था में होने वाली असुविधा को दृष्टिगत रखते हुए उचित यही लगा था कि मैं उन्हें कोई नाम दूं और मैंने उन्हें नाम दे दिए—'छोटू' और 'लम्बू'। कभी 'पराग' पढ़ा करता था। अवचेतन पर हावी हो गए ये शब्द ही उनके लिए संज्ञाएं बन गये। ···और! वे शब्द जिन्हें मैं दूसरी कुछ लड़कियों के लिये उपयोग में लाता हूं, इस प्रकार हैं—

सुहासिनी, हंसिनी, चंचला, मर्करी, डिम्पल, गजगामिनी, बिजली, पायल, टुनटुन और…और वह गम्भीर सी, दार्शनिक मुद्रा बना कर चलने वाली सुकरात… फुलझड़ी, ग्वेन्डोलन, मिस ब्यूटी, मैडम डिफ़ार्ज़… यानी एक लम्बी सूची है।

'कॉफी-हट' की ओर से चिंघाड़ती चली आती जीप सामने वाली आंखों से जलती हुई पीली रोशनी उगल रही है। ठण्डा स्लेटी दूधिया प्रकाश घुट कर जीप के इस कोने में 'इन्फीरियॉरिटी कॉम्पलैक्स' का शिकार हो गये स्कूल-बॉय की तरह सिमट कर रह गया है।…

पूर्व की ओर खुलती इस खिड़की की जहां कुछ अपनी ही अच्छाइयां हैं वहीं बुराइयां भी कम नहीं। इस के इस या उस किसी भी ओर बैठ कर—मैं जाड़े की मीठी कुनकुनी धूप का आनन्द लेता हूं।

—जहां से हर साल नई आती और पुरानी चली जाती लड़कियों से मौन परिचय का घेरा विस्तृत बनाता चलता हूं।

—जहां से पेड़ों की छतरियों में गुम से पक्षियों का कलरव सुन कर मधुर संगीत और मिडल-स्टैंडर्ड की अंग्रेजी-पुस्तक में पढ़ी… प्र, वुई, टू, विटा, वू… वाली कविता दोनों का आनन्द एक साथ लेता हूं।

और, टहनियों पर सामने बैठे दिखाई पड़ते पक्षी - जोड़ों को चोंचें मिलाते देख कर भीतर ही भीतर किसी अन्यतम भाव से द्रवित हो भीग-भीग जाता हूं— वहीं— कभी-कभी हवा में बाहें लहराते और नारे उछालते चले आते जुलूसों पर पड़ने वाली पुलिस के डंडों की मार से एक अच्छी-खासी खीझ का सामान हो जाता है।

अधिक कोफ़्त तो तब होती है, जब डंडों के प्रत्युत्तर में पथराव करने वाले हुजूम पर सत्ता की प्रतीक— बौखलायी हुई पोलीस 'टिअर-गैस' के लाल-लाल शेलस गिराने लगती है। वातावरण में फैला धुआँ ऊपर उठ आता है और आंखें चिनचिनाने लगती हैं। पिछले चार वर्षों— इस नामुराद बीमारी का विक्टिम बनने के बाद जब से मैं इस कमरे का कैदी बना हूं—

की इस अवधि में केवल तीन बार, गोली चलने की 'मामूली' सी घटनाएं भी घट चुकी हैं ।

कई बार अनेक दृश्य कई-कई दिन तक याद आते रहते हैं, कचोटते रहते हैं···अँधेरे में बनते ट्यूब-लाइट के एक निश्चित घेरे से परे वाले भयावह अंधकार की भांति काली-सूनी रातों में दहलाए रहते हैं···।

सूनी रातों की बात आई तो लगे हाथ बतला ही दूं कि एक लम्बे समय से— 'वर्किंग डेज़' में कालेज की टाईमिंग या फिर हंगामों वाले दिनों को छोड़कर शेष सूने दिनों की भांति मेरी रातें भी सूनी ही हैं। कोई डरे भी तो कब तक ?

मेरी बीमारी के आरंभिक दिनों में और उससे काफी देर बाद तक भी, मेरे कमरे में पिता जी सोते रहे··· फिर, मां सोने लगी और फिर ! एक रात मैंने पाया कि वे भी नहीं आईं। उससे अगले दिन खाने के लिए लायी गई थाली मुझे थमाते, एक फॉर्मल-सा प्रश्न दागते हुए उन्होंने पूछ भर लिया था— 'रात को तकलीफ तो नहीं हुई न ?'

···और मैंने, प्रश्न के उत्तर में एक बड़ा सा कौर तोड़ कर मुँह में भर लिया था— मुझे अच्छी तरह याद है ।

यह बात नहीं कि हमारे घर में और कोई छोटा-बड़ा नहीं, लेकिन छोटे भाइयों स्नेहिल और तुषार समेत इस कमरे में आने के लिए दीदी पर भी पाबन्दी लग चुकी है। मैं उन्हें घर में घुसते समय ही देख पाता हूं। वैसे, 'प्रिवेन्शन इज़ बेटर···' का कायल तो मैं भी हूं और मां की शब्दावली में 'इस राजसी रोग में' उनका मुझ से दूर रहना ही श्रेयस्कर है, फिर भी उनका मुझ से बिल्कुल कट कर एक ही चारदीवारी के भीतर सराय के यात्रियों की भांति बिल्कुल अजनबी बन कर रहना मुझे कचोटने लगता है, अपने एकांत क्षणों में अक्सर रुआंसा बना देता है। और ! इस वेदना से बचने के लिए मैं अक्सर कुछ सोचा करता हूं ।

…एक उपाय मेरी समझ में भी आ गया है। अब के, ठेके के काम पर से लौटने पर पिता जी को कह दूँगा कि वे मुझे किसी सेनिटोरियम में छोड़ आयें। …घर से दूर… अपने जैसे रोगियों की बिरादरी में… एक भरे पूरे परिवार में…।

घर के अन्दर रह गए चेहरों से अधिक निकट के, अधिक समीपी मुझे वे चेहरे लगते हैं जो मेरी ओर देखते हैं… हँसते हैं… विंक करते हैं— एक भावना को तुष्टि देते हैं।

रात्रि के सूनेपन में, पिता जी और मां के बाद— इस कमरे में— यदि कुछ ऐसा है जो मेरे साथ होता है, तो वह है— उनकी अनुपस्थिति से खाली लगने वाला आलमारी के आगे वाला वह हिस्सा या फिर चिन्तातुर वे वाक्य जो उनके 'घुलने' की प्रक्रिया को प्रतिबिम्बित करते हुए मेरे कानों में पिघले हुए सीसे की तरह प्रवेश कर जाते थे।

आंख मूँद कर इतने सारे चेहरों पर नज़र दौड़ाने लगा हूं। खोजने लगा हूं कोई अपना— खास अपना चेहरा, लेकिन इस एक विचार ने मथ डाला है कि घर के पांच चेहरों में यदि कोई अपना नहीं बन पाया तो, तो… सड़क पर उड़ती फिरती इन तीतरियों में से कौन…।

निराशा का एक भाव जीप की एग्जास्ट-पाइप से निकलते नीले धुँए की लकीर की तरह कलेजे पर खुद रहा लगता है। आंख मूँद कर किये जाने वाले इस उद्योग में— रह-रह कर यदि कोई नाम मेरी चुप जुबान पर आया है— तो केवल एक— वन्दिता (नाम असली नहीं)।

मैं जिन क्षणों को इस समय जी रहा हूं… अक्सर जीता हूं… और, जो नाम मेरी जुबान पर तैर रहा है… अक्सर तैरता है और अक्सर… मुझे लगता है कि… कि इस क…म…रे के ठोस भुतहे एकान्त को पिघला पाने की सामर्थ्य यदि किसी में है तो वह वन्दिता में है…केवल एक वन्दिता !

भर आई आंख को कमीज की झोल से पोंछ लेने का विचार आया था जिसे मैंने त्याग दिया है और अब मन को समझाने लगा हूं… वन्दिता

के विषय में सोचना तक पाप है। ···इस समय वह अपने पति के साथ बेड-रूम में होगी। ···दूध पिला रही होगी···।

कुछ ही दिन पहले कानपुर से मायके आई निन्नी मिलने चली आई थी। उसी ने बताया था कि वन्दिता को लड़का हुआ है। दोनों स्वस्थ हैं। बच्चा बड़ा प्यारा है।

—'तुमसे मिलने की ताकीद वन्दिता ने ही की थी।' निन्नी ने, शायद, खिड़की के बाहर फैले शून्य में खो गये अतीत को ढूंढने का प्रयास करते हुए कहा था।

···तुमसे मिलने की ताकीद वन्दिता ने ही की थी··· मिलने की ताकीद··· वन्दिता ने··· मिलने की··· बीसियों बार दुहराये गए ये शब्द मैं फिर दुहरा रहा हूं··· शान्ति मिलती है··· सुख मिलता है··· तुम से मिलने की ता···।

मैंने चाहा था कि इस कमरे में से ही कोई नई दिखने वाली चीज़ प्रैज़ेंट भेज दूँ··· पर नहीं···। उसके साथ जर्म्ज़ होंगे··· निन्नी इन्हीं जर्म्ज़ को ले जायेगी··· वन्दिता का बच्चा बड़ा प्यारा है···कहीं···कहीं उसे भी···नहीं···नहीं ऽऽ! और मैंने आलमारी की किसी किताब में कब के यत्न से सँभाले रखे एक मात्र दस के नोट को खोज निकाला था— 'इन से कुछ ले जाना···खिलौने ले जाना···वन्दिता के बच्चे के लिये।'

और, अगले शब्द गले में फँसी हड्डी हो गये थे।

'···वन्दिता के···बच्चे···के लिए···वन्दिता और पा···ल के··· बच्चेऽ ऽ···!'

कहीं कुछ टूट गया है···टूट गया है···कुछ अनछुआ···टुकड़े-टुकड़े हो गया है···कहीं कुछ गलत हुआ है। बलण्डर···बलण्डर···लेकिन मैं नि···र्दो···ष···

वन्दिता को मेरी बेबसी से हमदर्दी है···कायरता से सहानुभूति है··· मेरे स्टैण्ड न ले पाने की कमज़ोरी से···स्टैण्ड लिये जाने पर जमे न रहने की कमज़ोरी से···

--ग्रांखों का रिसाव गाल सहलाने लगा है।

मां-पिता जी मान लेते तो शायद मैं इस राजसी रोग की गिरफ़्त में न ग्राता।

'...तुम ग्रपनी सेहत का ध्यान रखना'—निन्नी ने मुँह दूसरी ग्रोर कर लिया था। उस की 'टोन' से मैंने ग्रंदाज़ कर लिया था कि हो न हो, उसे ये शब्द उस की दिल्ली में बैठी ग्रंतरंग सहेली ने ही कहे होंगे। मैसेज बखूबी कन्वे करने की एक ग्रौर ताकीद के साथ।

कुछ चेत हो ग्राया है।

मेरी सोच को, जैसे ब्रेक लग गये हैं।

ग्रौर! एकांत सोचों के साथ घटने वाला ऐसा हादसा कोई पहली बार नहीं...नया नहीं। बिजली चली गई है।

जीप गुज़र जाने के बाद के क्षणों से ट्यूब लाइट पर जमी ग्रांखों में किसी ग्रँधेरी माँद जैसा दृश्य उभर ग्राया है। एक व्याघात उपस्थित हो गया है। नींद का ग्रोर छोर तक ज्ञात नहीं ग्रौर ऐसी हालत में कचोटने लगा है— ग्रब क्या?—यह प्रश्न।

कुछ देर, बिजली के ग्रा जाने तक, 'प्रतीक्षारत'—यूनिवर्सिटी-टूर के समय 'ग्रजन्ता-एलोरा-केव्ज़' में किसी स्थान पर ग्रंकित 'ग्रभिसारिका' की मुद्रा में—बने रहने का विचार ग्रन्तर में सिर उठा लेता है, किन्तु तभी, न जाने क्यों, पाँव वापस पलंग की ग्रोर घिसटने लगते हैं—उस विचार से विद्रोह जताने जैसे ग्रंदाज में।

पलंग पर बैठ, स्लीपर उतारने की सोचने के बाद टांगें ऊपर कर ली हैं। रात को लाइट जलती न रह जाए—यह बात ध्यान में ग्राते ही उठने की तकलीफ़ गवारा करने में ग्रौचित्य नज़र ग्राने लगा है। काफ़ी देर तक एक ही 'पोज' में खड़े रहने के कारण, बांस की खपच्चियों जैसी ग्रकड़ा गई टांगें विरोध की मुद्रा में पड़ी रह जाना चाहती हैं, लेकिन मन नहीं मान रहा। कालेज-टाइम में कबड्डी का 'ग्राउटस्टेंडिंग प्लेयर' ग्रौर 'इन्टर यूनिवर्सिटी टूर्नामेंट्स' में कैप्टन होने का भाव टांगों में गति ले ग्राया है। उठ

बैठा हूं । टांगें नीचे लटका कर स्लीपर पहन लिये हैं । उठ खड़ा हुआ हूं ।

अंधेरे की अभ्यस्त हो चुकी आंखों और कमरे की लम्बाई - चौड़ाई से सुपरिचित टांगों के कारण बटन दबाने और वापस पलंग तक लौट आने के सारे कार्य-कलाप में किसी भी प्रकार का व्याघात कहीं भी नहीं आया। लेटने की सोच ही रहा हूं कि सिरहाने की ओर लगी तिपाई पर 'रुदिन' का खुला होना स्पष्ट हो गया है ।

खिड़की के बाहर ट्यूब फिर जल उठी है और कमरे में रोशनी का हल्का-सा एहसास अपने डैने फैला कर मंडलाने लगा है ।

उपन्यास पढ़ने को मन फिर हो आया है । फिर उठ बैठा हूं । लाइट आन कर दी है । उपन्यास उठा लिया है । नहीं, रख दिया है । पैन उठा लिया है । खुले कागज़ पास खींच लिये हैं । लिखने लगा हूं···पूर्व की ओर खुलती खिड़की के पार...।

अनिल सहगल

•

- कोहरे में से

कोहरे में से

आज बेहद सर्दी है। रात भर बर्फ़ गिरने से आस-पास की पहाड़ियों की चोटियां बर्फ़ से ढक गई हैं। सामने वाले घरों की ढालदार छतों और गीली सड़क से उठते कोहरे को देखना बड़ा अच्छा लगता है। कभी कोई यात्री इस सड़क पर छाए कोहरे में से गुज़रता है तो सोचने लगता हूं कि क्या वह इसमें से सही-सलामत बाहर निकल पाएगा (मैं जानता हूं कि ऐसा सोचना मेरा वहम है लेकिन ऐसा सोचना मुझे अच्छा लगता है) और हर बार जब वह सही-सलामत बाहर निकल आता है तो मुझे दिली-तसल्ली का एक गीला और लिज़लिजा एहसास होता है।

सर्दियां मुझे हमेशा अच्छी लगती रही हैं। इस अच्छे लगने का कोई विशेष कारण नहीं है। रहा भी हो तो मैं नहीं जानता—कभी सोचा ही नहीं। अपने कमरे की खिड़की से बाहर दूर-दूर तक फैले हुए कोहरे को देखने का अपना एक उल्लास होता है। बचपन में अपनी काटेज के गर्म आरामदेह कमरे

में बैठ कर कमरे के बाहर व्याप्त कोहरे के रहस्यमय वातावरण में से सड़क के पार के शान्त लम्बे चीड़ों को देखना मेरी हाबी रही है। बचपन के चुलबुले और शोख माहौल में ऐसी हाबी कब और क्यों अपना ली, मैं नहीं जानता। न ही जानना चाहता हूं। इससे एक सुखद अनुभूति होती है—और बस। और इस तरह के सुखद क्षणों को समेट लेना मुझे बहुत पसन्द है। मेरी पसन्द या नापसन्द का कोई ठोस या विशेष कारण हो सकता है (या होना चाहिए) ऐसा मैंने कभी नहीं सोचा (शायद चाहा भी नहीं)।

बस ऐसे ही कुछ चीजें अच्छी लगने लगती हैं और मैं यह मान लेता हूं कि वह चीजें अच्छी ही हैं। बड़ी-बड़ी गोल और बेहद काली आंखें, एक जोड़ी पतले और एकदम नाज़ुक होंठ (जिन्हें देख कर मुझे अपनी एल्जबरा की किताब में रखी सूखी गुलाब की पत्ती का ख्याल हो आता है), या कमीज़ को भेद कर बाहर आने को उतावले उरोज या फिर रेशमी कमीज़ के नीचे से झांकती शमीज की लेस…कुछ न कुछ तो ऐसा ज़रूर था उसमें जो मुझे मोह गया था। वह 'अच्छा' क्या था, मैं नहीं जानता। फिर भी वह मुझे अच्छी लगी थी। सिर्फ़ अच्छी। नहीं, बेहद अच्छी। मुझे कोई भी चीज बुरी नहीं लगती—ऐसा वह सोचती थी। और शायद मेरी उससे प्यार करने की वजह भी यही थी (कि मुझे कुछ भी बुरा नहीं लगता)—यह उसने कहा था।

बस, सर्दियां मुझे अच्छी लगती हैं। इसलिए नहीं कि जहां मैं रहता हूं वहां साल भर ठण्ड ही बनी रहती है। इसलिए भी नहीं कि मुझे बरसात या गर्मियों से कोई चिढ़-विशेष है। दरअसल हिल-स्टेशनों की सर्दियों में कोहरे का अपना एक ख़ासा रोल है। और कोहरे का अपना एक खास वातावरण होता है—उल्लास से ओत-प्रोत एक विशिष्ट अनुभूति—और बस। कोहरे के आर-पार देखने का यत्न या कोहरे में से गुज़रते हुए एकाएक अपने गुम हो जाने का एहसास…कोहरे में से गुज़रते हुए मैं अक्सर सोचता हूं कि अगर यह कोहरा एकाएक यूं ही जम जाए तो? मुझे ऐसे सोचना प्रिय है।

अब सोचता हूं तो लगता है कि ऐसी ही कोई अनुभूति रही होगी जो वजह रही है सर्दियों, और खासकर कोहरे के प्रति मेरे इस मोह की। सर्दियों के शुरू होते ही नानी रोज़ाना हमारी जेबें काजू, किशमिश और चिलगोज़ों से भर देती थी जिसे मैं स्कूल के पार्क में खाली समय में विकी के साथ बैठकर खाया करता। काजू और चिलगोज़ों से ज़्यादा मुझे विकी के साथ सट कर बैठना पसन्द था। शायद उसे भी यही अच्छा लगता था। कालेज के दिनों में शकुन के साथ हाथों में हाथ थामे माल रोड पर चुपचाप घूमना या जनवरी की ठण्डी धुंध भरी सुबह को 'गाज़ेबो' में सुमि के साथ बैठ कर बेहद लम्बी बातें करते ब्लैक काफ़ी के छोटे-छोटे घूंट भरना...

बहरहाल सर्दियों की इस ठण्ड भरी सुबह, मैं लान में बैठा सोच रहा हूं कि आज का दिन कैसे गुज़ारा जाए। भीतर कमरे से पुष्प के गुन-गुनाने की आवाज़ आ रही है।

पुष्प को भी गुनगुनाने की बस अजीब ही धुन है। क्लास हो या थियेटर, घर हो या पार्क, आफ़िस हो या रेस्तरां, ये हज़रत गुनगुनाए बिना नहीं रह सकते। स्कूल में कई बार पाण्डे जी से यह साहब अपने कान खिंचवा चुके हैं लेकिन मुंह को लगी भी कहीं छूटी है भला ?

इस वक्त ये महाशय शेव कर रहे हैं और मुझे जल्दी ही आज दिन का, यानि १० बजे (जबकि पुष्प दफ़्तर जाता है) से शाम ५ बजे (जबकि वह वापिस आता है) तक का प्रोग्राम तय करना है। तय करने की कोई मजबूरी हो, ऐसी बात नहीं। बस मुझे लगता है कि प्रोग्राम तय करना है। दरअसल यहां आने के बाद हर सुबह मेरे लिए जो सबसे अहम काम होता है वह है दिन भर के कार्यक्रम का निर्धारण। यह काम मैं पिछले उन्नीस दिनों से बखूबी निभाता चला आया हूं लेकिन कसम है जो एक दिन भी इस पर अमल किया हो। कुछ चीजें शायद इसीलिए बनाई जाती हैं कि हम उन्हें तोड़ सकें।

तमाम उम्र मैं ऐसी बहुत सी बातें सोचता रहा हूं और ऐसी बहुत सी योजनाएं बनाता रहा हूं जिन पर मैं अच्छी तरह से जानता हूं कि मैं

अमल नहीं कर पाऊंगा। मसलन मां-बाप से अलग होना, अपनी विधिवत ब्याहता स्त्री से, जिसे कि मुझे पिछले मात्र चार वर्षों में तीन अदद बच्चों का बाप करार देने का श्रेय हासिल है, (और आइन्दा भी वह ऐसा नहीं करेगी, इस बात का कोई अन्देशा नहीं है) से तलाक लेना, दफ्तर में अपने सड़ियल बास की खुशामद न करना, उस 'लो-कट' ब्लाउज़ पहनने वाली से इश्क करना जो मुझे रोज़ाना बस में मिलती है और मेरी तरफ़ देखकर मुस्कराना अपना कर्त्तव्य समझती है...

अपनी इन्हीं योजनाओं की नवीनतम कड़ी के रूप में यह प्रोग्राम बनाने वाली आदत भी शामिल कर ली है। सच तो यह है कि इस प्रोग्राम बनाने के फेर में मेरा सुबह का वह वक्त व्यतीत हो जाता है जिसे अन्यथा बिताने के लिए मेरे पास फ़िलहाल कोई निरापद विकल्प नहीं है। और जब तक मैं प्रोग्राम फाइनल करता हूं पुष्प आफ़िस जा चुका होता है, वह लड़की जो हमारी कोठी के सामने से गुजरने वाली सड़क से होकर जाती है, जा चुकी होती है। हमारे सामने वाले सक्सेना साहब की बबली जो अब पन्द्रहवां पार कर चुकी है और दसवीं जमात में पढ़ती है, अपने उभारों को कोरे सफ़ेद दुपट्टे से ढांपने का नाटक करते हुए स्कूल के लिए रवाना हो चुकी होती है।

मैं जल्दी से तैयार होकर बस-स्टाप वाली सड़क पर चलने लगता हूं। हर दिन ग्यारह बजे बस-स्टाप पर पहुंच कर चण्डीगढ़ से आने वाली बस का इन्तज़ार करने की आदत सी हो गई है। इसी बस से रोज़ाना चौबीस घण्टे की बासी अखबारों का एक बण्डल उतारा जाता है जिसकी प्रतीक्षा मेरे अतिरिक्त बुक-सैलर के नौकर को भी होती है। दरअसल अखबार वाला सारी कालोनी में अखबार बांटता हुआ हमारी कोठी पर शाम चार बजे पहुँचता है। इसलिए मैं खुद ही अखबार लेने चला आता हूं ताकि दोपहर काटने को किसी और बहाने की तलाश न करनी पड़े।

बस-स्टाप से अखबार लेकर आते वक्त रास्ते में शर्मा के घर पर रुकना भी मुझे अच्छा लगने लगा है। शर्मा कालोनी से बाईस मील की दूरी

पर बग्गी टनल प्रॉजैक्ट में एस० डी० ओ० है और टनल का इन्चार्ज। ब्यास को सतलुज से मिलाने का जो काम हो रहा है उसमें बग्गी टनल एक वाइटल लिंक है। पूरा दिन काम होता रहता है। तीन शिफ्टों में।

हाल ही में शर्मा की सगाई हुई है। उसे इस बात की बड़ी खुशी है और वह बड़े फ़ख्र से बयान करता है कि उसकी शादी उसी लड़की से हो रही है जिसे छेड़ने के जुर्म में सुकेश दत्त को एक साल के लिए 'रस्टीकेट' कर दिया गया था···कि जिसे वह बेहद पसन्द करता रहा है···कि जो पिछले बारह वर्षों से उसके घर के सामने रह रही है और जिससे पिछले दो सालों से वह बेपनाह मुहब्बत करता रहा है—दिल ही दिल में।

शर्मा का पड़ौसी अविनाश चन्द्र भारद्वाज भी मुझे अच्छा लगने लगा है। शायद अपने पुरखुलूस कहकहों की वजह से। या शायद इसलिए कि उसने मुझे टैरामाइसीन के कैप्स्यूलस की तंगी नहीं होने दी। अविनाश स्थानीय बी० एस० एल० हास्पिटल में मेडिकल आफ़िसर है।

डाक्टरी का पेशा अविनाश को पसन्द नहीं है और वह बम्बई के कस्टम्स डिपार्टमैण्ट में जाना चाहता है। उसे पूरी उम्मीद है कि उसका काम जल्दी ही हो जाएगा। उसके फूफा केन्द्र के किसी विभाग में सेक्रेटरी हैं। उसे बहुत जल्दी बहुत सारा धन एकत्र करना है—ऐसा वह बताता है। उसके बाद उसे पालिटिक्स जॉयन करनी है। उसके पिता एक धनी जमींदार हैं लेकिन अविनाश अपने बूते पर पालिटिक्स में प्रविष्ट होना चाहता है। उसका कहना है पैसा और पालिटिक्स परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं।

जब कभी शर्मा नहीं मिलता, मैं अविनाश के पास ही समय व्यतीत करता हूं। अविनाश को पैसा एकत्र करने के अलावा कहकहे लगाना और सामरसेट माम की नायिकाओं के बारे में बातें करना बहुत पसन्द है।

आज सुबह से धूप न निकलने के कारण चारों ओर घना कोहरा छाया हुआ है। ज्यों-ज्यों दुपहर ढलती जा रही है कोहरे की सघनता बढ़ती जा रही है। कोहरे में से गुजरता हुआ मैं शर्मा के घर पहुंच जाता हूं।

शर्मा घर पर ही मौजूद है। आज उसकी सैकण्ड शिफ्ट थी लेकिन वह 'फ्रेंच लीव' लेकर आ गया है। फ्रेंच राइस, फ्रेंच लिट्रेचर और फ्रेंच लीव से उसे बड़ा लगाव है। बीयर पीने के अलावा हम दोनों में एक और बात भी कामन है…शतरंज खेलने के हम दोनों ही शौकिन हैं। आप हैं शतरंज के बेताज बादशाह—पुष्प ने इंट्रोड्यूस करवाया था।

शर्मा शतरंज वाकई बहुत अच्छी खेलता है। खेल को खेल की भावना से खेलना उसे खूब आता है। अक्सर मेरी ग़लत चालों को मुआफ़ करना वह कभी नहीं भूलता। फिर भी हर बार वही जीतता है। जीतने से ज्यादा खुशी उसे मेरी गलत चालों को मुआफ़ करने में होती है।

आज पहली बार मैं उसके घर से जीत कर उठा हूं। कुछ बीयर अधिक पी जाने की वजह से और कुछ अपनी अप्रत्याशित जीत की खुशी से मेरे पांव कुछ डगमगा रहे हैं—ऐसा मुझे महसूस हो रहा है।

शाम घिर आने से कोहरा घना हो गया है। मुझे यह कोहरा अपने में समोता सा लग रहा है। धीरे-धीरे यह मेरी चेतना पर छाता जा रहा है। सोचता हूं कि क्या इस कोहरे से पार जा पाऊंगा। फिर याद आने लगा है यह सोचना कि क्या कोहरे में से सही-सलामत बाहर निकला जा सकता है? अपने इस वहम को झटक देता हूं। यह स्थिति ज्यादा देर तक नहीं रहती। कोहरा अब छंटता हुआ सा लग रहा है।

अपने को हास्पिटल वाली सड़क पर बहुत आगे निकल आया जान ठिठक जाता हूं। चौंक कर चारों ओर एक भ्रांत दृष्टि डालता हूं।

हास्पिटल के निकट कुछ मज़दूरों की भीड़ लगी है। आवाज़ों से ज्ञात होता है कि बग्गी में टनल के एक हिस्से के गिर जाने से बारह मज़दूरों की मौत हो गई है।

…अचानक मेरी जीत हार में बदल गई है। छंटा हुआ कोहरा फिर घना हो चला है। सफेद चादरों में लिपटी लाशों को देखकर शतरंज के सिपाहियों का ख्याल हो आता है। सोचता हूं कि क्या ये मज़दूर भी 'फ्रेंच-

लीव' पर गए हैं। फिर लगता है कि छुट्टी मंजूर न होने पर इन्होंने रिज़ाइन कर दिया है। लगने लगा है कि घने कोहरे में से सही-सलामत बाहर निकल पाना सचमुच सभी के लिए तो संभव नहीं है।...

...सड़क पर से स्कूल के बच्चे गुज़र रहे हैं। स्कूल में छुट्टी हो गई है। सवेरे वाली लड़की भी अब वापस लौट रही है। न जाने क्यों मुझे अचानक लगने लगा है कि कल से वह हमारी कोठी के सामने वाली सड़क से होकर नहीं गुज़रेगी और सक्सेना साहब की बबली अपने उभारों को दुपट्टे में समेटने का अभिनय भी नहीं कर पाएगी।...

...कोहरा मेरे चारों ओर बहुत दूर-दूर तक फैल चला है। मैं कोहरे में कहीं बहुत गहरे में धंसता चला जा रहा हूं। अचानक सोचने लगा हूं कि क्या मैं इस कोहरे में से......

कु० नीलम खोसला

•

- अलगाव
- बोधिसत्व

अलगाव

क्लाक ने चार बजा दिए हैं। दृष्टि ऊपर उठती है तो पाता हूं कि सभी लोग कुर्सियों से उठ चुके हैं। कितने उतावले हैं घर जाने के लिए! साथ ही हवा में एक प्रश्न चिन्ह तैर जाता है कि मेरे मन में घर के लिए आकर्षण मर क्यों गया है? ये दफ़्तर की फाइलें चार बजे तक तो कीड़ा बन कर मेरा दिमाग चाटती हैं, चार बजे के बाद भी···! ऐसा क्यों है? कल ही रमेश पूछ रहा था—"यार, भाभी क्या मायके गई हुई हैं?"

"नहीं तो?"

"फिर यूं उदास और परेशान क्यों रहते हो आजकल?"

"अरे छोड़ो भी! अब तो उम्र भी ढलने को है; और फिर रिटायर भी होने वाला हूं। सोचता हूं जब तक दफ्तर का साथ रहे, अच्छा है।"

"वाह यार वाह! तेरा भी जवाब नहीं। भाभी घर में तेरी राह देख रही होगी। चलो घर चलें।"

याद आता है कि छः बजे पुष्पा को मनोचिकित्सक के पास ले जाना है और घड़ी की सुइयां चार बज कर सत्ताइस मिनट हो जाने की मौन घोषणा कर रही हैं। मैं अनमना सा उठकर बाहर निकल आता हूं। शेड से साइकिल निकाल कर घर की ओर जाने वाली भीड़ में खो जाता हूं।

ठक···ठक···दरवाज़े पर थाप देता हूं। 'कौन ?' अन्दर से एक साधारण से स्वर द्वारा पूछा गया प्रश्न साथ की फैक्टरी के भोंपू के स्वर में गुंथ जाता है। "मैं हूं···दरवाज़ा खोलो", इतना कह कर मैं चुप हो जाता हूं।

"ऊंह ! आज फिर आपने देर कर दी।" उसके स्वर की कर्कशता मुझे असहज बना देती है। परन्तु खुला दरवाज़ा मुझे भीतर चलने का निमन्त्रण देता हुआ लगता है। भीतर आकर अपने कमरे की मेज़ पर फाइलें टिका देता हूं। अपनी पदोन्नति के दिन हुई पार्टी के दिन का चित्र देखता हूं। शीशे पर धूल जमी हुई है, उसे हटाने की चेष्टा करता हूं। एक काली तह अंगुलियों से चिपक जाती है।

'पुष्पा ! चलो डॉक्टर के पास चलें। हां, मगर पहले चाय का एक कप हो जाए तो···!'

'ऊंह ! चाय का कप हो जाए ! मेरे साथ बैठ कर चाय पीने में अब कहां मज़ा आता है तुम्हें। मैं जानती हूं—मेरे बाल सफेद हो चले हैं, मैं मोटी हो गई हूं, पर···पर···मेरा भी दिल है; कभी तुमने यह भी सोचा है ?' इतना कहते-कहते उसके सुबकने का स्वर हवा में तैरने लग जाता है।

"ओह, पुष्पा ! क्या हो गया है तुम्हें ? पिछले दो साल से यही सब सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गए हैं।"

"हां हुआ तो मुझे ही है। आपको थोड़ी ही कुछ हुआ है ? जिसकी बेटी भी ब्याही जा चुकी हो वह आदमी ऐसी हरकतें करे ? राम ! राम !! शर्म आनी चाहिए उसे। लोग सुनते होंगे तो क्या कहते होंगे ?"

मैं अनायास भड़क उठता हूं—"लोगों ने क्या कहना है, जो कहती हो तुम्हीं कहती हो। पता नहीं क्या वहम हो गया है तुम्हें ? तुम्हारे

दिमाग से यह खराबी निकल जाए तो···तो तुम समझ नहीं सकतीं कि मैं अपने को कितना भाग्यशाली समझूंगा।···"

"अच्छा तो अब तुम्हें मेरा दिमाग भी खराब नज़र आने लगा है। मेरा इस घर में कोई स्थान नहीं! हे भगवान्, तू ही देख मेरी दशा और गिरा वज्रपात उस चुड़ैल पर जो···।"

"पुष्पा, तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आ जाता है। आखिर कोई ऐसी चुड़ैल है भी कि जिसे तुम सारा दिन कोसती रहती हो। मेरे लिए तो तुम्हीं सब कुछ हो फिर···"

"यह चिकनी चुपड़ी किसी और को सुनाना। मैं तुम्हारी इन बातों में आने वाली नहीं। मुझे तो लगता है कि मैं दिन प्रतिदिन बूढ़ी होती जा रही हूं और तुम···तुम जवान!" पुष्पा के रुदन का दबा हुआ स्वर अब फिर मुखर हो चला था।

उसके रोने का स्वर मेरे भीतर तक झुंझलाहट भर देता है। उसके आंसू पोंछने के स्थान पर मैं रसोई में जाकर स्टोव जलाने लगता हूं। सामने की खिड़की से आया हवा का एक शीतल झोंका, क्षण भर के लिए ही सही, मुझे जीवन का आनन्द प्रदान कर जाता है।

उसके सुबकने का स्वर मुझे फिर कुरेदने लगता है। सोचता हूं कि यह सब मेरा वहम है। परन्तु जैसे ही दृष्टि द्वार की ओर डालता हूं तो पाता हूं कि···अपनी साड़ी का पल्लू मुंह में दबाए पुष्पा द्वार की दरार से निरन्तर मेरी ओर देखे जा रही है। मुझे अपनी ओर देखते पाकर वह कह उठती है—

"चाय बनाने के बहाने आप फिर खिड़की में से झांक रहे हैं। साफ क्यों नहीं कहते कि···!"

मेरे दिमाग में जो ज़रा सी ताज़गी आई थी वह लुप्त हो जाती है। दिमाग में फिर से हज़ारों मक्खियां भिनभिनाने लगती हैं। मैं उन्हें झटकने की भरपूर चेष्टा करता हूं। क्षण भर के लिए मन में आता है कि सब

कुछ छोड़कर इस धुएं भरे वातावरण से निकल भागूं लेकिन उसी क्षण पुष्पा की काली-काली आंखों के कोरों से झरता आंसुओं का सैलाब अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से मुझे आप्लावित कर देता है। मेरे सारे निश्चय रेत की दीवार की भांति ढह जाते हैं और मैं सदा की भांति इन आंसुओं से हार मान लेता हूं तथा भागने की अपनी योजना को कार्यान्वित कर सकने में एक बार फिर असफल हो जाता हूं। पुष्पा की थुलथुल देह में यदि विकर्षण नहीं तो मेरे लिए आकर्षण भी नहीं रह गया है। फिर भी न जाने कौन सा तन्तु है जो हमें टूटने···बिखरने से अभी तक बचाए हुए है। स्थिति की गम्भीरता को महसूस करता हुआ बोल उठता हूं···

"पुष्पा ! तुम्हें चाय नहीं पीनी है क्या ? चलो जल्दी से तैयार हो जाओ। और हां, प्लीज ! तुम पानी में चायपत्ती और चीनी वगैरह डालो न। तुम्हारे हाथ की बनी चाय का एक अपना ही स्वाद होता है··· सच !" इतना कहकर मैं उस पर हुई इन शब्दों की प्रतिक्रिया जानने के लिए रुक जाता हूं। उसके माथे पर सदा बनी रहने वाली सिलवट कुछ और लम्बी हो जाती है बल्कि उसमें एक और सिलवट भी जुड़ जाती है।

"हां···हां···क्यों नहीं ? मेरा तो काम ही है सारा दिन तुम्हारी मज़दूरी करना।" वह कुछ क्षण चुप रहने के बाद अजीब चौंके हुए से अंदाज़ में फिर बात करना शुरू कर देती है। "सुनो ! मैंने आज एक सपना देखा···!"

जी तो नहीं चाहता कि उसके स्वप्न के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करूं, क्योंकि मैं जानता हूं कि उसके स्वप्न में मेरे फ्लर्ट करने के सिवा और कभी कुछ नहीं होता है, फिर भी मजबूरन पासा फेंक देता हूं—"क्या देखा ?"

"यूं पूछो, क्या न देखा ?" इतना कह कर वह चाय का पतीला स्टोव से उतार कर नीचे रख देती है तथा स्टोव की हवा निकालकर कमरे में से शूं···शूं के शोर को निष्कासित कर देती है। फिर उसके सपने का शेष वृत्तान्त भी बदबूदार धुएं के साथ मेरे दिमाग में घुसने लगता है। विवश होकर मैं एक पुराना अखबार उठाकर उसे पढ़ने का नाटक करता हूं।

कुछ ही क्षण बाद वह चाय का एक कप मेरे हाथ में थमा कर दूसरे में सैक्रीन की गोलियां डाल कर हिलाने लगती है।

"आज राधा कह रही थी कि चीनी का प्रयोग कम कर देने से व्यक्ति का मोटापा दूर हो जाता है। देखा, मैंने चीनी खाना छोड़ दिया है...पर तुम मेरी ओर ध्यान ही कब देते हो।" रुके हुए रिकार्ड पर सुई फिर से गतिमान हो चली है।

मेरी दृष्टि सामने की दीवार पर पंखे की हवा से झूलते कैलण्डर पर जम जाती है और उस पर बने चित्र को देख मुझे आश्चर्य होने लगता है। मैं देखता हूं कि एक वृद्ध दम्पत्ति एक दूसरे को बड़े प्यार से निहार रहे हैं। क्या कभी वास्तविक जीवन में भी ऐसा होता है? इसी प्रश्न के साथ जुड़ा एक और प्रश्न मुझे झकझोर देता है—क्या कभी पुष्पा का विश्वास भी लौट आएगा? सोचता हूं उसी दिन मेरा यह घर सचमुच घर कहलाने योग्य हो सकेगा। उसी विश्वास को लौटा पाने के लिए कहता हूं—"देखो पुष्प! आज तुम वही पीली साड़ी पहनना! कितनी जंचती है वह तुम पर।"

"क्या उसने आज पीली साड़ी पहन रखी थी जो...।"

"अब मैं तुम्हें कैसे समझाऊं...तुम तो किसी भी बात को सीधे ढंग से लेती ही नहीं हो।" कुछ क्षण चुप रहकर खीझ भरे स्वर में कह उठता हूं—"छः बजने में पच्चीस मिनट शेष हैं। डॉक्टर के पास चलना है कि नहीं...?"

डॉक्टर...डॉक्टर...डॉक्टर! जब देखो तब डॉक्टर की ही रट लगाए रहते हो। क्या हुआ है मुझे जो डॉक्टर को दिखाओगे? इस बुढ़ापे में 'इश्क-रोग' तो तुम्हें लगा है...तुम्हें!"

जूते के फीते आवश्यकता से अधिक कस लेने के कारण मेरे पांव में दर्द होने लगा है। फीता ढीला करके कुर्सी पर रखा पाँव ज़मीन पर टिकाता हूं। वह भी शोख़ नीले रंग की साड़ी पहनकर कमरे से बाहर निकल आई

है। उसने अपनी ऊंची एड़ी वाली चप्पल पहन रखी है। अरे बाबा, मेरा तो कद पहले ही विशेष लम्बा नहीं है···परन्तु यदि चप्पल बदलने के लिए कहूं तो जानता हूं कि हंगामा हुए बिना नहीं रहेगा अतः मौन रहना ही श्रेयस्कर लगने लगता है।

रिक्शा में केवल हमीं दो बैठे हैं। मार्ग ऊबड़-खाबड़ होने के कारण रिक्शा हिचकोले खा रहा है। कभी-कभी उसके शरीर से अपना शरीर टकरा जाने पर एक झुरझुरी सी महसूसता हूं—पर यह रोमांच नहीं है—हड्डियों के टकरा कर टूटने की चरमराहट सी है। पुष्पा अब एकदम मौन बैठी है। उसके चेहरे को देखने तथा उस पर फैले भावों को पढ़ने की चेष्टा करने पर पाता हूं कि वह स्वयं अपने को दिखाने नहीं अपितु मुझे दिखाने के लिए मनोचिकित्सक के पास ले जा रही है। मैं सिहर उठता हूं। कहीं सच्चाई यही तो नहीं ?

बोधिसत्व

कीचड़ से भरी गली में केंचुओं से बचते हुए जैसे ही मैंने लकड़ी की अर्गला को हटा आँगन में पांव रखा तो गफारा अपने कमरे से भागता हुआ आया…'बाबू जी सलाम—सामान आ गया ?'

उसने बिना मेरा उत्तर पाये ही दरवाज़ा खोला और मुझे भीतर आने को कहा। अन्दर घुसते ही एक सीलन भरे बन्द रहे कमरे की दुर्गन्ध का झोंका मेरे नथुनों में घुस गया। गफारा शीघ्रता से खिड़कियां खोल रहा था जिससे बाहर और अन्दर की हवा परस्पर आदान प्रदान करने लगी। मजदूर ने दो तीन चक्करों में ठेले से सारा सामान ला कर रख दिया। कमरे में बड़े-बड़े जाले लटक रहे थे…एक अजनबी को देख उनकी परेशानी इस हद तक बढ़ गई थी कि उनका रंग एकदम काला पड़ गया था।

अब मेरे लिये प्रश्न यह है कि दोनों कमरों में से अपना स्टडी रूम किसको बनाऊं, क्योंकि दोनों कमरों में से साफ किसको करूं यह प्रश्न जटिल है। कारण ? जो महाशय पहले इस

मकान में रह कर जा चुके हैं, शायद उनको दीवारों पर कटिंग्ज चिपकाने का बहुत शौक था। जाते जाते वह अपनी कटिंग्ज उखाड़ कर ले गये हैं। किन्तु 'कटिंग्ज' के आकार की गोंद के निशान और कहीं कहीं पूरी तरह कागज के न उखड़ पाने के कारण रंग बिरंगी चिप्पियां सब मिल कर किसी आधुनिक कला भवन का रूप प्रस्तुत करते हैं। कटिंग्ज के इन अवशेषों अर्थात गोंद के निशानों को देख कर मुझे याद आया कि कभी पढ़ा करते थे कि डारविन की 'एवोल्यूशन थियोरी' के अनुसार 'फासिल्स' हमें अपने से पूर्व की स्थिति का परिचय करवाते हैं। आज मैं जान पाया हूं कि इस बात में सत्य अवश्य है। मुझे गफारे पर गुस्सा आया क्योंकि मैंने इसे पहले ही सफेदी करवाने को कहा था परन्तु उसका उत्तर था—'बाबू जी तीन महीने से खाली पड़ा है, यह खर्च करने की हिम्मत अभी मुझ में नहीं। बस एक बरसात का महीना निकल जाये तो···।' मैं भी उस समय मकान के चक्कर में घूम-घूम कर इतना परेशान हो चुका था कि बिना आनाकानी किये हां कर दी। खैर अब एक महीने तक जैसे तैसे···।

'ठप्प ?' एक जोरदार ध्वनि से मैं चौंक उठता हूं। देखता हूं गफारे ने मेरी बहुत सी किताबें एक साथ मेज पर पटक दी हैं। धूल का एक भभका टेबल से उठकर दूर तक उड़ता चला जाता है। मैं अपने स्थान पर ही चीख पड़ता हूं—"अरे ओ गफारे भैय्या। यह क्या किया। इतनी धूल में किताबें पटक दीं—अब देखो न सारी धूल इन किताबों पर अट गई होगी।

मैंने देखा लम्बी तिकोनी टोपी वाला गफारा मेरी रूखी बात से कुछ सहम सा गया है। फटाफट उसके हाथ उन किताबों पर मेंढक से फुदकने लगे और फिर अपने कुर्ते के साथ वह हाथों को पोंछ कर पुनः किताबों की मिट्टी झाड़ने लगा है। मुझे न जाने क्यों अपने आवेश पर कुछ शर्म सी महसूस हुई। पहले ही दिन और फिर मकान के मालिक से, चाहे वह गरीब ही है, मेरा इस प्रकार उलझना ठीक नहीं। मैंने अपने शब्दों का लहजा बदला और पुनः कहा—चलो कोई बात नहीं···अभी इन किताबों को वहां से उठा कर ट्रंक पर रख दो—फिर अलमारी साफ हो जाएगी तो उसी में रखेंगे।

वह किताबें उठाकर ट्रंक पर रख देता है। जैसे प्राइमरी स्कूल का हैडमास्टर बच्चों को कुर्सियां उठाने को कहे तो वह बिना आनाकानी किये एक के बाद एक कुर्सी उठा लेते हैं। मुझे गफारे की मासूमियत पर दया हो आती है। परन्तु फिर भी न जाने क्यों इस छोटी छोटी मूँछों वाले आदमी पर मुझे गुस्सा आने लगा है। क्यों आ रहा है ?–यह मैं स्वयं भी नहीं जानता। मैं जेब टटोलता हूं। उसकी सीवन उधड़ चुकी है। शुक्र है भगवान का कि उसमें से पैसे गिर नहीं गये, शायद नोट थे इस लिये नहीं गिरे वर्ना चेंज तो···मेरा दिमाग इसी में खोया है—परन्तु मुझे होश नहीं कि मेरा हाथ यन्त्रवत स्वयं कार्य कर रहा था। अर्थात एक नोट दो रुपये का मेरे हाथ ने मेरी जेब में से निकाल लिया है। मैंने वह नोट गफारे के हाथ में यूं थमाया कि वह समझ गया कि इस का अर्थ है 'अब चले जाओ'। वह चला गया।

मेरे कमरे की खिड़की का शीशा कुछ आड़ा सा टूटा हुआ है। उधर जाने लगता हूं पर न जाने क्यों मुझे लगता है कि मेरी ऐनक का शीशा टूट चुका है और शीशे की छोटी किरचें मेरी आंखों में घुस गयी हैं। सिर्फ आंखों में नहीं आंखों से दिमाग और दिमाग से सारे शरीर में फैल गई हैं। शायद मार्ग की थकावट है। बिना बिस्तर बिछाये चारपाई पर लेट जाता हूं। तकिए की आदत है किन्तु आदत और हिम्मत के मध्य थकावट एक दीवार बन चुकी है। अपनी बाईं बाजू को मोड़ कर उस पर सिर रख देता हूं।

'ठक-ठक-ठक ?' और दरवाज़ा खुलता है। मेरे सामने गफारे का छोटा भाई पिंचू खड़ा है। जब मैं पहली बार मकान देखने आया था तो इसी ने चाबी लाकर जंग लगा ताला खोला था। वर्षा हो के हटी थी अतः गीले एवं ढीले कपड़ों में लिपटा, गुलाबीपन मुख पर समेटे हुये यह बालक बहुत भला लगता था। न जाने क्यों वापस लौट कर भी जब मैं इस मकान का 'इमेज' अपनी आंखों में लाता तो इसका चेहरा भी अवश्य सामने आ जाता। अब मुझे हैरानी इस बात की हो रही थी कि मुझे लगभग दो घन्टे और

दस मिनट हो गये हैं इस घर में आये हुए और मैंने एक बार भी गफारे से इसके विषय में क्यों नहीं पूछा ।

'बाबू जी । बाजार से खाना ला दूं ?

मुझे याद आया कि मैंने अभी खाना नहीं खाया है । पैसे उसके हाथ में देता हूं और उसके गोरे नंगे पांव जो अभी किसी सुन्दर टाइपिस्ट की अंगुलियों की तरह भागते हुए गये हैं, उनके आने की प्रतीक्षा करने लगता हूं । लेकिन वापसी पर वह इतना तेज भागता हुआ नहीं आएगा क्योंकि उसके हाथ में खाना होगा और हो सकता है कि सब्जी तरी वाली हो । यदि तरी उसके गोरे गोरे पांवों पर गिर गई तो उसकी गौरांगता नष्ट हो जाएगी । मेरा दिल करता है उठूं और खिड़की खोलकर देखूं कि यदि वह भाग रहा हो तो मना करूं कि भाग कर न आए । किन्तु चारपाई मैगनेट की तरह मुझे अपनी ओर खींचती ही जा रही है—कहीं मैं लोहा तो नहीं हो गया ?

पिंचू खाना ले आया है । खाना मैं अक्सर होटल का ही खाता हूं, कालका में भी । किन्तु इस नये होटल का खाना खाने पर ऐसा अनुभव हो रहा है जैसे कोई विद्यार्थी घर का खाना खाने का आदी हो और पहले दिन होटल का खाना खा रहा हो ।

पिंचू टेबल फैन और चारपाई पर बिस्तर लगा कर दे गया है । मैं दरवाज़ा बंद कर चारपाई पर लेट गया हूं । कुछ ही क्षण में ध्यान आता है कि बत्ती तो जलती ही छोड़ दी गई है । सोच कर भी निश्चेष्ट सा लेटा रहता हूं । न जाने क्यों ऐसा होता है कि जब मैं किसी नई जगह जाता हूं तो मुझे नींद नहीं आती । सामने दीवार पर बने गोल, चौकोर एवं तिकोने और विविध कोण से बने निशान मुझे लगता है और बड़े होते जा रहे हैं और उनके पीछे छोटे छोटे सुराख हैं...काले काले । कभी वह सुराख लाल लगने लगते हैं और मुझे अपने घर पर पाले खरगोश की लाल बटन सी आंखें याद हो आती हैं । कभी दीवार पर बनी दीमक की लकीर इतनी बड़ी लगने लगती है कि मुझे अपने गांव की पगडंडी का आभास होने लगता है जिस पर चलते बहुत पहले मैंने 'श्यामा' को अपनी 'सोनिए' कहा था और

एक उत्तर नापाम बम सा मेरे ऊपर उछल कर गिर पड़ा था—हूं ! पहले शक्ल ते देख अपनी । और तड़ाक से एक थप्पड़ मेरे मुंह पर चिपक कर रह गया था । एक अजीब सी घुटन मेरे दिल को सालने लगती है । लगता है रास्ते में जिन केंचुओं से बचता हुआ मैं आया हूं, वे सब मेरे शरीर पर पसीने की पर्त से जम गये थे, अब समय पा कर सभी मेरे शरीर पर रेंगने लगे हैं । उपफ । ये लिज़लिजे अब मुझे कहां छोड़ेंगे ? मैं सोचता हूं सामने टेबल पर पड़ी अपनी डायरी पर यह अनुभूति मुझे नोट कर लेनी चाहिए···क्योंकि मेरी डायरी ऐसी ही विचित्र अनुभूतियों का लिखित संग्रह है । पेन खोलता ही हूं कि टनन टनन की तुमुल ध्वनि मुझे चौंका देती है । टेबल फैन के पंख उसके खोल से टकरा रहे हैं । पंखे को ठीक करता हूं और पुनः टेबल पर आता हूं । पैन का खोल खुला पड़ा है किन्तु पैन नदारद । बड़ी खोजबीन के पश्चात ध्यान आता है कि टेबल की साइड पर लगी रैक्सीन ऊपर से उधड़ी हुई है—कहीं उसमें तो नहीं गिर गया है पैन । टेबल पुराना है । हाथ उस उधड़ी रैक्सीन के बने थैले जैसे आकार के खोल में डालने से कतराता हूं । टेबल को थोड़ा औंधा करता हूं । उसमें से पैन के साथ एक सफेद कागज़ का टुकड़ा भी गिरता है । कागज़ पर कुछ लिखा है, और लिखा इतना सुन्दर है कि पढ़ने का मोह छोड़ नहीं पाता हूं । एक ही तह वाले उस कागज़ को खोलता हूं । और हैरान रह जाता हूं कि वह एक पत्र है जिसमें मुझे ही सम्बोधित किया गया है—

प्रिय विशाल,

तुमने शायद कभी मेरे विषय में सोचा भी है या नहीं, परन्तु निरन्तर एक लगाव की अजस्र धारा मेरे हृदय को तुम्हारे प्रति आकर्षित करती रही है । मैंने सुन रखा था कि प्रेम-प्रस्ताव प्रायः पुरुष द्वारा रखा जाता है । परन्तु यह विचार कितना अनप्रैक्टीकेबल है, यह तथ्य मुझ से छिपा नहीं । क्या यह सच नहीं कि जिसको जितनी तीव्र अनुभूति होगी वही सर्वप्रथम उसका प्रकाशन करेगा । क्यों ठीक है न ? बात यह है कि प्रस्ताव और स्वीकृति के बीच का अन्तराल फांद कर अनुभूति जब द्विपक्षीय हो उठे, तो वही समर्पण जीवनदायी है, महत्वपूर्ण है ।

तुम्हारी कहानी 'विकराल' सचमुच रोमांचित करने वाली थी। तुमने अपने रूप को उसमें कितना कोसा है, किन्तु मैं शारीरिक सौंदर्य में तनिक भी विश्वास नहीं रखती। चेचक के दागों से भरे चेहरे वाले व्यक्ति का हृदय औरों की अपेक्षा अधिक बेदाग हो—क्या यह सम्भव नहीं है ?क्या मोटे चश्मों के पीछे छुपी आंखों की गहराई में प्यार का सागर हिलोरें नहीं खा सकता ? विशाल मेरे ख्याल से हृदय की विशालता अन्य समस्त आकर्षणों से बढ़ कर है। हां एक बात पूछने की धृष्टता अवश्य करती हूं कि तुम्हारी अनासक्ति किसी महान लक्ष्य की प्रेरणा है या किसी द्वारा···

लेकिन इसके आगे कागज समाप्त है। टेबल को पुनः झाड़ता हूं कि शायद इस पत्र की पूर्ति के लिये कोई 'लिंक' मिल जाये परन्तु व्यर्थ। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि यह पत्र मेरे नये निवास–स्थान के पुराने मेज पर और फिर मेरे ही नाम पर...मेरी कहानी का इसमें प्रसंग है और किसी युवती (युवती ही होगी, ऐसा मेरा अनुमान है) का प्रणय—प्रस्ताव···यह मामला क्या है। मैं एक अनोखे इन्द्रजाल में फंसता जा रहा हूं। न जाने 'वोल्टेज' तेज हो गई है या कि पंखा तेजी से चलने लगा है, और पंखा जितना तेज होता जा रहा है मेरा मस्तिष्क उतना ही स्थिर। पुनः चारपाई पर लेट जाता हूं और ध्यान से इस अधूरे पत्र को दो तीन बार पढ़ जाता हूं कि शायद नीले अक्षरों में से लिखने वाली का नाम—पता झलक उठे। किन्तु असफलता ही हाथ लगती है। फिर उस कागज़ को तह कर के तकिए के नीचे रखता हूं और घड़ी देखता हूं–'साढ़े बारह'। ध्यान आता है कि सुबह से कालिज भी जाना है और कालिज में पहले दिन तो वैसे भी दुर्गति होती ही है। यदि कल क्लास में जम्हाई आई तो इसमें कोई शक नहीं कि पहले ही दिन जम्हाई से सम्बन्धित मेरा कोई नाम गढ़ लिया जायेगा। उठ कर बत्ती बन्द कर देता हूं, परन्तु ऐसा कोई स्विच नहीं मिलता जिससे नींद को आन कर सकूं।

कालिज से आते ही मैंने गफारा को बुलाया। पिंचू को होटल से खाना लाने के लिये भेजा और गफारा से पूछना शुरू किया—

'इस मकान में मेरे आने से पहले कौन रहता था।'

'बाबू शाब, तीन महीने से तो यह मकान खाली ही पड़ा है।'

'ओफ्फो। मगर इसमें पहले तो कोई रहता होगा?'

'हां शाब, एक मेमसाहब रहती थी।'

'अकेली?'

'हां, पहले अकेली ही थी, बाद में उनकी बहन भी आ गई थी कालका से।'

'कालका से?'—मैं चौंक उठता हूं।

'जी शाब—दोनों के मां-बाप कालका में ही रहते हैं।'

'तो क्या वह नौकरी करती थी यहां।'

'जी हां, जी हां—क्रिस्तीनों के स्कूल में पढ़ाती थी।'

अब मैं अपने दिल की बात गफारे पर प्रकट न होने देने के लिये एक कठोर दृष्टि कमरे में घुमा कर कहता हूं—'तो क्या ये तस्वीरें उन्होंने ही दीवारों पर चिपकाई थीं?'

'हूं···अ···शाब यह तो छोटी बहन बिट्टो की करामात है। तस्वीरों से उसने कमरा इतना सजा दिया था कि क्या बताऊं।'

इसी बीच पिंचू नैपकिन से ढंका खाना ले आया है। प्लेट पर से नैपकिन उठाते ही एक सुगन्ध मेरे भीतर सोई हुई भूख को जगा देती है।

गफारा और पिंचू चले जाते हैं। मैं खाना खा रहा हूं। किन्तु कौन सी सब्जी कैसी बनी है यह मुझे पता नहीं चल रहा है। क्योंकि मेरा मस्तिष्क चौराहे पर खड़ा अब भी सोच रहा है कि—जब वह लड़की कालका में थी तो मुझे उसका नाम पूछना चाहिए था। आखिर इतनी देर मैंने कालका में सर्विस की है। हो सकता है कोई परिचिता ही इस मकान में रही हो। पर···पर मैं तो ऐसी किसी लड़की को नहीं जानता जो लुधियाना में सर्विस करती रही हो···और लुधियाना तो मैंने इससे पूर्व केवल बस में गुजरते हुए ही देखा है। मुझे आभास होता है कि एकाएक सामने वाला जो लैम्प पोस्ट जला

था वह पुनः बुझ गया है। बहुत सारे कव्वे 'कांव कांव' करने लगे हैं। न जाने क्यों झगड़ रहे हैं। खिड़की के दरवाज़े पर एक बरसाती घोंघा बहुत धीरे धीरे चल रहा है अपने पीछे एक लेस सी छोड़ता हुआ। मेरा और खाना खाने को मन नहीं चाहता।

दो रातों के बाद आज लुधियाना में मेरा तीसरा दिन है। मैं अपनी पुरानी 'एस्सेबुक' उठाए कालिज की ओर बढ़ रहा हूं। एक दिन लगातार धूप लगने से कीचड़ सूख गया है, बरसाती बदबू सड़क के साथ ही साथ चल रही है। मेरा उत्साह शायद मर गया है। या शायद शिथिल पड़ गया है। केवल यह सोच कर कि आज पहला पीरियड 'फर्स्ट ईयर' के साथ है, कुछ आश्वस्ति सी होती है क्योंकि इस क्लास के लड़के कुछ हद तक सीरियस लगते हैं बाकी तो बस···

पहला पीरियड···रोलकाल समाप्त होते ही लड़के मुझ से परिचय स्थापित करने को उतावले हो उठते हैं। मैं अपने से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य बातें बता देता हूं। तभी एक लड़का विनोदपूर्वक पूछ बैठता है···'सर शादी हुई कि अभी नहीं ?'

न जाने क्यों मुझे आभास होता है कि फर्श स्पञ्ज का बना है और मैं उसमें धंसता जा रहा हूं। लैक्चर टेबल को मैं बाएं हाथ से कस कर पकड़ लेता हूं। एक छोटा सा नहीं···शायद बहुत बड़ा झूठ···मैं श्वास को नथुनों के रास्ते निकालते हुए 'हूं' कह कर उगल देता हूं। सम्भव है यह स्वीकृति बहुत से प्रश्नों से बचने का एक उपाय रही हो। मेरे उत्तर की नीरसता से एक प्रश्न पुनः देव सा अट्टहास करता हुआ खड़ा हो जाता है—'क्या तलाक हो गया है ?'

मेरे हृदय से एक विद्रूप हंसी की लहर होटों पर आकर छितर जाती है, और सोचता हूं कि जब शादी ही नहीं हुई तो तलाक कैसा ! खैर परिस्थिति को समझते हुए कहता हूं—'नहीं, शुभ शुभ बोलो।' मेरे इस वाक्य में कितनी कृत्रिमता है—कितना खोखलापन है। मैं इससे अपरिचित नहीं हूं। अपनी ऐनक को कुछ ऊपर उठाते हुए लड़कों को बताता हूं कि मैं उनको एस्से के कुछ 'प्वांइटस' दे रहा हूं शेष वह स्वयं 'डीवैल्प' कर लें।

'इण्डियाज न्यूक्लियर एक्सपैरीमैंट' बड़बड़ाता हुआ मैं बाएं हाथ में 'एस्से बुक' पकड़े हुए पन्नों को यूं ढीला छोड़ देता हूं कि वे स्वयं उलटने लगते हैं, और मेरी आंखें अपने शिकार की खोज में लगे शिकारी की तरह उन पन्नों में से वह एस्से ढूंढ़ निकालने में लगी हैं। तभी एक कागज का टुकड़ा नीचे गिरता है। उस कागज को उठाने और तह कर बुशर्ट की जेब में रखने के बीच के समय में मैंने जान लिया है कि इस पन्ने पर जो लिखा है क्लास में उसे पढ़ना उचित नहीं है। हृदय को उतावला बनाने वाली 'नर्वज़' इतनी सक्रिय हो गई हैं कि मेरी आंख हाथ में पकड़ी किताब से उठ कर जेब में घुस जाना चाहती है। जितने 'प्वांइटस' कलास में देने थे, उससे बहुत कम दे कर ही क्लास छोड़ देता हूं।

'स्टाफ रूम' में छिटपुट लैक्चरर बैठे हैं, वरना फर्स्ट पीरियड में तो वह ही आता है जिसने क्लास लेनी होती है। एक कोने की कुर्सी पर बैठ कर जेब से वह कागज निकालता हूं जो शायद इसी पत्र का दूसरा अंश है। लिखा है—

...दिये हुए घाव का परिणाम। आजकल के इस क्रियाशील युग में बोधिसत्व बन कर रहना कहां तक उचित है? सदा चेष्टा की किन्तु तुम्हारे अनासक्त आचरण को देखते हुए मुझे कभी साहस नहीं हुआ कि तुम्हें अपने हृदय के भाव बता सकूं।

जानती हूं नये वातावरण में तुम्हें नया आनंद मिलेगा परन्तु फिर भी कुछ क्षण ऐसे होते हैं जिनको हम अतीत का समझ कर जीना चाहते हैं। उन्हीं क्षणों में जब कभी मेरी उपस्थिति का अहसास तुम्हें हो तो...और यदि तुम्हें मेरा प्रस्ताव स्वीकार नहीं हो तो, तुम पर अपना अधिकार समझने की धृष्टता अवश्य करती हूं, कि मुझे सूचित अवश्य करवा देना।

हाँ यह पत्र किसी को मत दिखाना।

(चाहे तुम इसे भारतीय लड़की की कमजोरी ही समझो)

पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में

५.८.७४. अणिमा मुकरजी

अनुभव करता हूं कि शरीर पर कोमल एवं नर्म छोटे छोटे कांटे उग आए हैं। अणिमा···कालका में हिन्दी की लैक्चरर···एक सांवला, किन्तु आकर्षक आंखों की जोड़ी से सजा चेहरा तैरने लगता है। अणिमा···कितना देखा सा चेहरा···इतना देखा हुआ नहीं जितने कि उसके लम्बे लम्बे बाल। अक्सर वह स्टाफ रूम में चेयर पर बैठी होती तो कुर्सी के पीछे से लहराती उसकी लम्बी काली चोटी···एक बार तो न जाने क्यों विचार आ गया था ···एक अटपटा सा कि कहीं वह बनावटी बाल तो नहीं लगाती है फिर स्वयं ही हंसी आ गई थी अपने इस अजीब से विचार पर।

तबीयत खराब होने का बहाना बना कर छुट्टी ले लेता हूं और उस गंदी दीवारों वाले घर में जिसे मैं अब भी अपना कह सकता हूं, पुनः आ जाता हूं। सिरहाने के नीचे से पहला भाग निकालता हूं और दोनों कागजों को एक साथ रख कर देखता हूं, एक ही पत्र के दो शरीर···लेकिन यह अलग अलग क्यों थे ?

तभी गफारा खुला दरवाज़ा देख कर सेबों की टोकरी सर पर रखे हुए भीतर आ जाता है और उसे मेज़ पर रख देता है–कुछ पटक कर–पटका उसने जानबूझ कर नहीं अपितु बिना सहारा मिले सिर से उतारने के कारण एक हल्का सा धक्का उसे लग गया है। यह मैं जानता हूं। टोकरी से उछल कर एक लाल सेब क्रिकेट बाल की तरह मेज़ पर से लुढ़कता हुआ उसके किनारे से लगी रैक्सीन, जो फटकर मुँह बाये खड़ी है, में घुस जाता है। मेरी समस्त चेतना लौट आई है और मैं एक महा इन्द्रजाल से बाहर निकल आया हूं। एक विचार मेरे मस्तिष्क में कुलबुलाने लगता है। जेब में से पैन निकालता हूं और राइटिंग पैड पर लिखने लगता हूं—अणिमा को उत्तर··· लेकिन पैन की स्याही खत्म हो चुकी है। केवल पैड पर खाली पैन के घिसने की 'करींट' की ध्वनि कितनी कर्कश कितनी निरर्थक एवं अस्तित्वहीन लग रही है।


K.P. SABHA
No
JAMM